वर्ष–14 अंक–25 (जनवरी–जून 2022) ISSN : 0975-5403

वाग्प्रवाह

A Refereed & Peer Reviewed Bilingual Half Yearly
Research Journal of Humanities and Social Science

प्रधान सम्पादक
प्रो. अनिल कुमार विश्वकर्मा

संरक्षक मंडल

प्रो. प्रेमचन्द पातांजलि, (पूर्व कुलपति, बी.डब्लू.–97 डी शालीमार बाग, दिल्ली)
प्रो. अवधराम, पूर्व कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी
प्रो. विश्वनाथ शर्मा, कुलपति, अरुणोदय विश्वविद्यालय, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश
प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित, सेवानिवृत्त, हिन्दी–विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो हरिशंकर मिश्र, सेवानिवृत्त, हिन्दी–विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो. उमापति दीक्षित, अध्यक्ष, नवीकरण एवं भाषा प्रसार विभाग, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

विषय विशेषज्ञ (अन्तरराष्ट्रीय)

डॉ. तेजेन्द्र शर्मा, साहित्यकार, ब्रिटेन
डॉ. अलका धनपत, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी संस्थान, मोका, मॉरीशस, ई–मेल alkadhunputh@yahoo.co.in
डॉ. राजरानी गोबिन, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, महात्मा गांधी संस्थान मोका, मॉरीशस, ई–मेल alkadhunputh@yahoo.co.in
प्रो. (डॉ.) पुष्पिता अवस्थी, अध्यक्ष हिंदी यूनिवर्स फाउन्डेशन, नीदरलैण्ड
डॉ. कविता वाचक्नवी, डायरेटर, Vss. Gobal. New Yark (America)
प्रो. सम्यंग ल्युमसाई, निदेशक, संस्कृत स्टडीज सेंटर, सिल्पाकार्न यूनीवर्सिटी, बैंकाक, थाईलैण्ड ई–मेल samiang101@gmail.com
डॉ. बमरुंग काम–एन, सहायक प्रोफेसर, हिंदी संस्कृत स्टडी सेंटर, सिल्पाकार्न यूनीवर्सिटी, बैंकाक, थाईलैण्ड
डॉ. विवेक मणि त्रिपाठी, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, क्वांग्तोंग, विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, चीन।

विषय विशेषज्ञ (राष्ट्रीय)

प्रो. पूरनचन्द टंडन, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो. पवन अग्रवाल, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
प्रो. हितेन्द्र कुमार मिश्र, हिंदी विभाग, नार्थ ईस्ट हिल विश्वविद्यालय, शिलांग मेघालय
प्रो. छत्रसाल सिंह, शिक्षाशास्त्र विभाग, रा.ट. मुक्त विश्वविद्यालय, फाफामऊ, प्रयागराज
प्रो. हेमन्त कुमार सिंह, समाजशास्त्र विभाग, जे.एन.एम.पी.जी. कालेज, बाराबंकी
प्रो. पीयूष कान्त शर्मा, इतिहास विभाग, एम.डी.पी.जी. कालेज, प्रतापगढ़
प्रो. मोहम्मद नसीम खाँ, अध्यक्ष, उर्दू विभाग, बाबा बरूआ दास पी.जी. कालेज, परुइआ आश्रम, अम्बेडकरनगर
प्रो. अनिल कुमार श्रीवास्तव, अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, जे.एन.एम.पी.जी. कालेज, बाराबंकी
प्रो. रेखा विश्वकर्मा, भूगोल विभाग, एम.ए.के.पी.जी. कालेज, बलरामपुर
प्रो. मुकेश श्रीवास्तव, वाणिज्य विभाग, विद्यान्त हिंदी पी.पी. कालेज, प्रतापगढ़
प्रो. सन्नी एन.एम., हिंदी विभाग, मालाबार क्रिश्चियन कालेज कालीकट, केरल

वाग्प्रवाह

अर्द्धवार्षिक सांदर्भिक समीक्षित
शोध पत्रिका
(सन् 2009 से अद्यावधि प्रकाशित)

वर्ष : 14 अंक : 25

जनवरी – जून, 2022

प्रधान सम्पादक
प्रो. अनिल कुमार विश्वकर्मा

सम्पादक
प्रो. डी.पी. सिंह

संपादन सहयोगी
प्रो. प्रणव शास्त्री
डॉ. सुनीता देवी

प्रबंध सम्पादक
डॉ. रमेश प्रताप सिंह

सम्पादकीय पता
'अस्तित्व विला' 624H/KH-28,
गोमती विहार, चिनहट, लखनऊ–08
मो. : 9412881229, 9140059427
E-mail : editoranil.hindi@gmail.com
Website : https://vagprawah.in

एक अंक मूल्य – रु. 100.00
वार्षिक मूल्य – रु. 200.00
(डाक खर्च सहित)
व्यक्तिगत/संस्थागत रु. 5000.00/8000.00
(दस वर्ष तक)
विदेशों के लिए :
एक प्रति : 10 डालर
आवरण चित्र :
स्टैचू ऑफ यूनिटी

इस अंक में

सम्पादकीय –

वीरेन्द्र डंगवाल के काव्य में प्रेम.......	डॉ. श्रीप्रकाश यादव	03
परम्परागत प्रमुख नाट्य विधाओ का.....	डॉ. कृष्णा जी श्रीवास्तव	05
काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य.......	डॉ. सुभाष चन्द सिंह कुशवाहा	08
समकालीन कथा साहित्य में स्त्री	डॉ. दिवाकर सिंह	14
अम्बेडकर चिंतन और सामाजिक....	डॉ. पवन कुमार सिंह	16
दलित साहित्य और सांस्कृतिक........	डॉ. आलोक बिहारी लाल	22
डॉ. परमानन्द जड़िया की कहानियों.....	डॉ. सुमन वर्मा	26
मधु कांकरिया का कथा साहित्य.......	डॉ. विजेन्द्र प्रताप सिंह	31
प्रेम की अनन्यता का आदर्श	प्रो. प्रणव शास्त्री	36
छायावादी काव्य में सामाजिक व्यंग्य	डॉ. सलिल तिवारी	39
तुलसी की दार्शनिक चेतना में श्रीराम	डॉ. कृष्णा जी श्रीवास्तव	42
भक्ति साहित्य में प्रकृति चित्रण	डॉ. राधेश्याम	45
Universal Heath coverage and ...	Dr. Vishal Dubey	49
विकलांग विमर्श और हिन्दी उपन्यास	कु. पूनम चौहान	54
असंगत नाटक : परम्परा और विकास	डॉ. रमेश प्रताप सिंह	57
भक्ति भ्रम से दूर संत रैदास...	डॉ. विजय कुमार वर्मा	61
हिंदी कथा साहित्य में स्त्री विमर्श...	डॉ. संजय कुमार यादव	64
भूमण्डलीकरण के दौर की कविता.......	सौम्य, डॉ. शमा खान	69
नासिरा शर्मा की कहानियों में स्त्री....	लक्ष्मी विश्वकर्मा	74
संजीव और शिवमूर्ति के उपन्यासों	शुभम कुमार	78
3020 पर्यावरण व मानव सभ्यता की....	डॉ. राम प्रताप सिंह	82
अनुभूति की सघनता और निशंक.....	डॉ. उषा मिश्रा	84

वाग्प्रवाह से सम्बन्धित सभी विवाद केवल लखनऊ न्यायालय के अधीन होंगे। प्रकाशित रचनाओं के विचार से संपादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। इसमें प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए संपादक की लिखित अनुमति अनिवार्य है। इसके संपादन, प्रकाशन व संचालन से जुडे समस्त पद अवैतनिक हैं। यह पूर्णतः अव्यावसायिक पत्रिका है।

ISSN : 0975-5403

सम्पादकीय

वीरेन डंगवाल के काव्य में प्रेम और सौन्दर्य

डॉ. श्रीप्रकाश यादव
अध्यक्ष एवं एसो. प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
जनता महाविद्यालय, अजीतमल ,औरैया

हर कवि की एक मूल संवेदना होती है जिसके इर्द–गिर्द उसके तमाम अनुभव सक्रिय रहते हैं। इस तरह देखें तो वीरेन के काव्य–व्यक्तित्व की बुनियादी भावना प्रेम है। ऐसा प्रेम किसी भी अमानुषिकता और अन्याय का प्रतिरोध करता है और उन्मुक्ति के संघर्षों की ओर ले जाता है। ऐसे निर्मम समय में जब समाज में लोग ज्यादातर घृणा कर रहे हों और प्रेम करना भूल रहे हों, मनुष्य के प्रति प्रेम की पुनर्प्रतिष्ठा ही सच्चे कवि का सरोकार हो सकता है। शायद इसीलिए वीरेन डंगवाल की कविता में वर्गशत्रु या अँधेरे की ताकतों से नफरत उतनी नहीं है, बल्कि बर्बर ताकतों का तिरस्कार ज्यादा है। यह कविता इसीलिए एक अजन्में बच्चे को माँ की कोख में फुदकते, रंगीन गुब्बारे की तरह फूलते–पचकते, कोई शरारत–भरा करतब सोचते हुए महसूस करती है या दोस्तों की बेटियों को एक बहुत बड़ा दिलासा देती है। एक पेड़ के पीले–हरे उकसे हुए, चमकदार पत्तों को देखकर वह कहती है–'पेड़ो के पास यही तरीका है / यह बताने का कि वे दुनिया से प्रेम करते हैं'।

शायद इसीलिए वीरेन 'कत्थई गुलाब वाले' शमशेर के बहुत निकट हैं, उन्हें बार–बार याद करते हैं और शमशेर के जीवन का निचोड़ और खुद हमारे समाज का निर्मम हाल बतलाते हैं। 'मैने प्रेम किया / इसी से भोगने पड़े / मुझे इतने प्रतिशोध'।

यह देखकर आश्चर्य हो सकता है कि पूरे संसार को ढ़ोने वाली / नगण्यता की विनम्र गर्वीली ताकत की पहचान और प्रतिष्ठा करती हुई वीरेन डंगवाल की कविता अपने प्रेम और सौन्दर्य के कलेवर में इतने अधिक प्राणियों और वस्तुओं को, उनके विशाल धड़कते हुए अस्तित्व को समेटे हुए चलती रही। हिन्दी कविता में यह एक दुर्लभ घटना है जब कोई कवि अपने से इतना अधिक बाहर रहकर, इतना अधिक बाह्यांतर से जुड़कर सार्थक सृजन कर पाया है।[1]

वीरेन डंगवाल की कविता का मूलमंत्र प्रेम और सौन्दर्य है। प्रेम और सौन्दर्य से यह कवि लबालब भरा है। अपने इस प्रेम के दायरे में वह न केवल "पेप्पोर, रद्दी पेप्पोर!"[2] के बैसाख की तपती गर्मी में रद्दी की तलाश में निकले किसी बच्चे को ले सकता है, वह उसमें चिड़ियों, बंदरों, हाथियों आदि को भी ले लेने में समर्थ है–

चीं चीं चूं चूं चीख चिरौटे ने की मां की आफत
तीन दिनों से खिला रही है तू फूलों की लुगदी
उससे पहले लाई जो भंवरा कितना कड़वा था
आज मुझे लाकर देना तू पांच चीटियाँ लाल
वरना मैं खुद निकल पड़ूँगा तब तू बैठी रोना
जैसे तब रोई थी जब भैया को उठा ले थी चील
याद है बाद में उसकी खुशी भरी टिटकारी' ?[3]

वीरेन की यह विशिष्ट प्रेम और सौन्दर्य क्षमता इतनी अद्भुत है कि वह 'डीजल इंजन' 'जलेबी' 'समोसे' 'लहसुन' आदि निर्जीव कही जाने वाली वस्तुओं को भी प्रेम की ऐसी नजर से देख सकता है कि वे एक बारगी उसकी कविता का विषय बन जायें–

आओ जी, आओ लोहे के बनवारी

अपनी चीकट में सने–बने

यह बिना हवा की पुष्ट देह, यह भों–पों–भों
आओ पटरी पर खड़कताल की संगत में
विस्तृत हो सारे आर्न्टना / आओ, आओ चोखे लाल
आओ चिकने बाल / आओ, आओ दुलकी चाल
पीली पट्टी लाल रूमाल / आओ रे, अरे उपूरे, परे, दरे, पूरे, दपूरे / के रे, केरे ?[4]

कवि के रूप में वीरेन डंगवाल का गुण दुर्लभ और आश्चर्यजनक है क्योंकि आज की दुनिया में जिस चीज की तेजी से कमी होती जा रही है वह प्रेम ही है। प्रेम का उलट आत्मकेंद्रितता है और हम देख रहे हैं कि व्यक्तिवाद और आत्मकेंद्रितता में दिन–दूना रात चौगुना इजाफा हो रहा है। ऐसे में यह बात मन में आती है कि व्यापारिक मानसिकता से उपजी इस स्वार्थपरता का काट क्या कहीं वीरेन डंगवाल जैसे संवेदनशील कवियों की कविता में भी ढूँढ़ा जा सकता है?

पारम्परिक दाम्पत्य संबंधों में भी प्रेम की जिस आत्मीय गहराई तक यह कवि पहुँचता–पहुँचाता है वह सचमुच विलक्षण है। "प्रेम कविता"[5] में वह एक बुद्धिजीवी पति और उसकी समर्पित भाव से गृहस्थी चलाने वाली पत्नी

के बीच जटिल मधुर कोमल संबंधों का काव्यात्मक चित्रण करता हैः—

प्यारी, बड़े मीठे लगते हैं मुझे तेरे बोल !
अटपटे और ऊल—जलूल
बेसर—पैर कहां से कहां तेरे बोल !
कभी पहुँच जाती है अपने बचपन में
जामुन की रपटन —भरी डालों पर
कूदती हुई फल झाड़ती
ताड़का की तरह गुत्थम—गुत्था अपने भाई से,
कभी सोचती है अपने बच्चे को
भांति—भांति की पोशाकों में,
मुदित होती है

इस कविता के माध्यम से कवि यह साबित कर देता है कि गृहस्थी का वह रूप भी जो की बहुत ज्यादा नारी—स्वातंर्त्य या गैर बराबरी के नारों से संचालित नही है, जिसमें पति और पत्नी की रूचियां अलग—अलग तरह की और अलग—अलग स्तर की हैं और जिसमें पति —पत्नी की भूमिकाएं परम्परा द्वारा पूर्वनिर्धारित और पूर्व स्वीकृत हैं, एक अप्रकट किन्तु आत्मीय और अत्यंत गहरे दाम्पत्य प्रेम की संभावनाओं को छिपाए रख सकता है।

हाईस्कूल में होंमसाइंस भी
महीने में जो कहीं देख लीं तीन फिल्में तो
धन्य
प्यारी !
गुस्सा होती है तो जताती है अपना थक जाना
फूले मुँह से उसांसे छोड़ती है फू—फू
कभी—कभी बताती है बच्चा पैदा करना
कोई हंसी नहीं
आदमी लोग को क्या पता
गर्व और लाड़ और भय से चौड़ी करती आँखे
बिना मुझे छोटा बनाये हल्का सा शर्मिंदा कर देती है/प्यारी

किन्तु इसी कविता में आगे जब यह कवि इस दाम्पत्य प्रेम के एक अनूठे ब्रह्मांडीय आयाम से अपने पाठकों का परिचय करवाता है तब हमें उसकी दुर्लभ रचनात्मक क्षमता का सही—सही अनुमान हो पाता है।

दोपहर बाद अचानक मे उसे देखा है मैने
कई बार चूड़ी समेत कलाई को माथे पर
अलसाये
छुपकर लेटे हुए जाने क्या सोचती है
शोक की लौ जैसी एकाग्र
यों कई शताब्दियों से पृथ्वी की सारी
थकान से भरी
मेरी प्यारी !

समूची मानवता को जोड़कर देखने वाला एक विश्वव्यापी प्रेम हमें वीरेन डंगवाल की कवितओं में यत्र—तत्र बिखरा मिलता है। वीरेन की कविताओं में ध्वनि—नाद सौंदर्य के अप्रितम रूप को हम देख सकते हैं। यह इनकी कविताओं मे प्राणतत्व की तरह आता है। 'नैनीताल में दीवाली' कविता में इसे देखा जा सकता है—तड़— तड़ाक, तड़—पड़—तड़ तिनक भूमद्धुटती है लड़ी एक सामने पहाड़ पर। अपनी पीढ़ी से अलग भाषा का यह सौन्दर्य उन्हें नया मुकाम देता है। वीरेन की कविता में प्रेम और सौन्दर्य के विविध रूपों का मनोहर चित्रण हुआ है। उनकी सौंदर्यानुभूति विलक्षण है। वे समकालीन युग के अन्य कवियों के समान ही, सौंदर्य—भावना को अपने युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में अंगीकार किया।

उन्होने अपनी कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य को सूक्ष्म रूप से प्रतिष्ठित एवं चित्रित किया। वीरेन ने अपनी कविता में मनुष्य के प्रति उनका प्रेम उसके हंसी—खुशी भरे जीवन की आकांक्षा को स्वर देने में व्यक्त हुआ है। वीरेन ने मैट्रो पर एक कविता लिखी इस कविता में उनकी सौन्दर्य पिपास प्रत्यक्ष दिखायी देती है। सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए वे एक खतरनाक संधि रेखा पर मौजूद रहते हैं भाषा में स्त्री विरोधी साबित होने की संभावना से जौ भर बचते हुए सुन्दरता के बाजार पर अचूक व्यंग्य की सृष्टि मेट्रो सम्बंधी उनकी कविताओं को अनूठी रंगत प्रदान करती है और शेष सभी समकालीनों में उन्हें ऊँचा देती है।6 वे हमेशा कहते थे कि प्रेम की बदौलत हम रचना करते हैं, जो सौंदर्यानुभव के अनूठे कशिश और संजीदगी से मूल्यवान होती है।

सन्दर्भ :—

1. कविता वीरेनः वीरेन डंगवाल की संपूर्ण कविताएं नवारूण प्रकाशन, पहला संस्करणः 2018 पृ.17
2. कविता वीरेन, नवारूण प्रकाशन, 2018 पृ.254
3. मानवीकरण, वही, पृ.268
4. डीजल इंजन, वही, पृ.185
5. वही, पृ. 51
6. गोपाल प्रधान, इक्कीसवीं सदी के समाजवाद का गायक, (रहूँगा भीतर, नमी की तरहः वीरेन डंगवाल) संपादक प्रेमशंकर,

■ ■ ■

परम्परागत प्रमुख नाट्य विधाओं का क्षेत्रीय स्वरूप

डॉ0 कृष्णा जी श्रीवास्तव
स. आचार्य, हिन्दी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,लखनऊ

हमारे विशाल देश भारत में परम्परागत नाट्य विधाओं के अनेक क्षेत्रीय स्वरूपों का विकास मिलता है। इनका उद्भव तो आदिकाल में ही हो गया था, पर इन नाट्य रूपों में लोक स्वभाव का अनुकरण होने के कारण ये सामाजिकों के लिए सर्वाधिक रूचि का माध्यम बनते रहे हैं। इन नाट्य विधाओं में रामलीला, रासलीला, जात्रा, बिदेसिया, स्वांग, यक्षगान नाट्य, कथाकलि, भामाकल्पम, चाड़, ओजापालि और नौटंकी आदि विशेष प्रचलित हैं। इन सभी नाट्य विधाओं में रामलीला का प्रमुख स्थान है। राम चरित मानवीय संस्कृति का आदर्श है। यही कारण है कि रामलीला के प्रर्दशन के प्रति सामाजिकों की अत्यधिक रूचि रही है। रंगमंच पर उसके मंचन से सभी वर्ग और सभी स्तर के दर्शकों को आनंद मिलता है। रूचि–परिष्कार का अवसर भी मिलता है। काशी में रामलीला प्रचलित करने का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को है। रामलीला में श्री राम की जीवन–लीलाओं का प्रदर्शन किया जाता है। इस पर पारसी मंच का प्रभाव दिखाई देता है। इस नाट्य विधा में दृश्य योजना तथा संगीत का बड़ा महत्व है। रामलीला नाट्यमंच कलात्मक मनोविनोद के साथ–साथ धार्मिक–सामाजिक सुसंस्कार उत्पन्न करने में अत्यंत प्रेरक और प्रभावशाली है। न केवल भारत में बल्कि विश्व के अनेक देशों जावा, बालि, थाइलैण्ड कम्बोडिया, मलेशिया, लाओस, म्यामार आदि में राम लीला कई रूपों में प्रचलित है। खुले रंगमंच पर असंख्य दर्शको को जीवन का सच्चा संदेश और आनंद देने वाली रामलीला विलक्षण नाट्य विधा है। समय की दृष्टि से महीने–डेढ़ महीनों में समाप्त होने वाली, पन्द्रह दिनों में समाप्त होने वाली, एक सप्ताह अथवा चार दिनों में समाप्त होने वाली रामलीला लोक मंचों पर प्रदर्शित होती है। रामलीला का प्रदर्शन अनेक आधार पर किया जाता है। उन आधारों में प्रमुख हैं– वाल्मीकि विरचित रामायण, जैन रामायण और जैन कहावली, कर्णाटक का यक्षगान, तुलसीदास कृत रामचरितमानस, थाईलैण्ड में प्रचलित रामकिन (रामकीर्ति), राधे श्याम 'कथावाचक' की शैली।[1]

वर्तमान भारत में रामलीला का प्रमुख आधार रामचरितमानस ही है। खुले रंगमंच पर असंख्य दर्शकों को जीवन का सच्चा संदेश देने वाला यह आदर्श नाट्य–प्रदर्शन है। राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण में इस नाट्यरूप से सर्वाधिक सहायता मिलती है। रामलीला अनेक देशों की राष्ट्रीय संस्कृत का प्रमुख अंग बन चुकी है। सम्प्रति रामनगर (काशी) एवं दिल्ली की रामलीला अधिक चर्चित है।

इसी परम्परा में एक और परम्परागत नाट्य विधि रास लीला की भी दीर्घ परम्परा रही है। रास लीला की परम्परा 45 वीं शती से चली आ रही है। विभिन्न पुराण इसके आधार रहे हैं, जिनमें हरिवंशपुराण और श्रीमद्भागवत पुराण प्रमुख हैं । इसे प्रतिष्ठित करने वालों में महाप्रभु हित हरिवंश तथा महाप्रभु वल्लभाचार्य का महत्वपूर्ण योगदान है।[2] इस नाट्य विधा में कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाओं का प्रर्दशन किया जाता है। रास लीला में प्रत्येक दिन पहले नित्यरास हुआ करता है, जिसमें सखियाँ कृष्ण से रासमण्डल में पधारने के लिए आग्रह करती हैं। कृष्ण राधा का आदेश लेकर तथा उनको साथ लिए रास में सम्मिलित होते हैं, फिर नृत्त का आयोजन होता है। रास लीला में 8 से 14 वर्ष तक की आयु का एक सुन्दर कोमल बालक कृष्ण बनता है तथा साथ में 10 या 12 किशोर कलाकार होते हैं, जो राधा– कृष्ण के साथ गोपियों की लीलाएँ करते हैं। रास लीला में बाँसुरी के साथ ढोलक और सितार बजाने वाले कलाकार होते हैं, जिन्हे समाजी कहा जाता है। सम्पूर्ण भारत, विशेषकर उत्तर भारत तो रास लीला का प्रधान केन्द्र ही रहा है, विदेशों में भी इसके प्रचार पर बल दिया जाता रहा है। रासलीला में गीत और नृत्य के साथ–साथ नाटकीयता के समावेश की प्रमुख विशेषता रही है। रासधारियों में स्वामी हरिदास सहित घमण्ड देव जी, स्वामी रामस्वरुप, लछन स्वामी, लाड़िली शरण, स्वामी हरिगोविन्द शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वर्तमान समय में प्रचलित रासलीला पारसी रंगमंच से बहुत प्रभावित है। रासलीला में दर्शकों को जो परिशुद्ध प्रेम की मनोहर झाँकियाँ दिखलाई पड़ती हैं, वे अन्यत्र संभव नहीं है।

एक और सशक्त परम्परा "जात्रा' नाट्य विधा की रही है। मध्य युग में भक्ति आंदोलन के प्रभाव को लेकर बंगाल में लोक नाटक को प्रतिष्ठित करने का श्रेय चैतन्य महाप्रभु को है। उनके समय में बंगाल में जात्रा नाट्य विधा का प्रचलन पहले से था, पर चैतन्य महाप्रभु ने इस नाट्य

विधा का नवसंस्कार किया। उन्हीं की प्रेरणा से श्रीकृष्ण के जीवन के अनेक प्रसंग, "'जात्रा' नाट्य विधा के विषय बने। "जात्रा' में श्रीकृष्ण को दिव्य शक्ति के रुप में न दिखाकर, मानवीय रुप में उपस्थित किया जाता था श्रीकृष्ण रतिनागर के रुप में अवतरित होते थे, वे राधा के साथ छेड़–छाड़ करते और हँसी–मजाक का आनंद लेते थे, वे प्रिया की खुशामद भी करते थे। कभी–कभी उन्हें घोखा–धड़ी करते हुए भी दिखाया जाता था। वह सब कुछ करते हुए दिखाया जाता था, जो एक सामान्य आदमी कर सकता है, परन्तु शिष्टता की सीमा में बँधकर ही यह सब प्रदर्शित किया जाता था। यह परम्परा आज भी कुछ बदलाव के साथ चली आ रही है। बंगाल में 'नकाब' और 'गभीरा' विधाओं का भी विकास हुआ है।

स्वांग नाट्य विधा का आरम्भ हरियाणा से माना जाता है। स्वांग शब्द का सामान्य अर्थ है ढोंग, नकल अथवा नाटक करना। इसके प्रदर्शन कर्ताओं को सांगी कहा जाता है। स्वांग में गीत का विशेष प्रयोग होता है। स्वांग गीति–नाट्य है। इसका प्रदर्शन विशेष रुप में गाँवों में ही होता है। इसमें पुरुष और स्त्री दोनों मिलकर गायन करते हैं, दोनों नाचते हैं, हँसी–ठिठोली करते है और संवाद भी बोलते हैं। इसका गायक मंडल भी किसी एक पंक्ति को उसी भाव में अनेक बार गाता है। ढोलक, मंजीरे का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रेम कथा गायन तथा संवादों का क्रम चलता रहता है। इसमें प्रेम कथा या हँसी मजाक का प्रसंग प्रस्तुत किया जाता है। विभिन्न उत्सवों पर यह खेला जाता है। स्वांग के प्रदर्शन रात–रात भर चलते रहते हैं।

बुन्देली स्वाँग का उल्लेख 'छिताई कथा' (1516–26 ई0) में नट् नाटक के रुप में आता है। सिद्ध संत कण्हपा ने (9वीं शती) में डोम जाति द्वारा सांग करना लिखा है। स्वांग बुन्देलखण्ड की भी प्रसिद्ध नाट्य विधा है। बुन्देली स्वांगों में पुरुष की अपेक्षा स्त्री की भागीदारी अधिक है। "'पण्डा बाबा' संतोष साहू द्वारा रचित स्वांग है, जिसकी प्रस्तुति मध्य प्रदेश में 22 स्थानों पर हुई है। विवाह के अवसर पर बाबा के सभी स्वाँग स्त्रियों तक ही सीमित हैं। वे इतनी स्वच्छंद हो जाती है कि अश्लील दृश्यों या संवादों में संकोच नहीं करती, इसीलिए इनकी प्रस्तुतियों में बच्चे और पुरुष दर्शक नही होते। इन स्वांगों में पुरुष को खुली चुनौती मिलती है। सभी प्रकार के स्वाँग बिना नारी पात्रों के मंचित नहीं होते है। बुंदेलखण्ड में ऐतिहासिक स्वाँगों को भी आदिकाल से महत्व मिला है 'कजरियाँ छेकबे कौ स्वाँग' बारहवीं शताब्दी का स्वाँग है। ऐसे स्वाँग उस युग की लोकचेतना के प्रतीक सिद्ध होते है और ऐतिहासिक चेतना को लोक चेतना में ढ़ालने वाली अद्‌भुत क्षमता रखते है।[3]

उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रसिद्ध परम्परागत नाट्य विधा 'नौटंकी' है। कहा जाता है कि हाथरस के नत्या राम गौड़ के स्वांग प्रदर्शन को देखकर कानपुर में श्री कृष्ण पहलवान ने "नौटंकी' की प्रतिष्ठा की। नौटंकी गीति–नाट्य, म्यूजिकल ऑपेरा, बैले आदि से मिलती जुलती कला है। इसका प्रचलन पारसी थियेटर से पूर्व 12 वीं शती के आस–पास भी माना जाता है। सम्भव है कि अरब यायावरों के साथ यह कला भारत में प्रविष्ट हुई हो। नौटंकी में भारतीयता और अरब संस्कृति का अद्‌भुत समन्वय है। इसके कथानक, पात्र, शब्द, छन्द और शिल्प सबमें यही परस्परता देखी जा सकती है। प्रदर्शन कला (शोमैनशिप) इसकी सर्वोपरि विशेषता है। दर्शक कान को आँख बना कर हजारो–हजारों की भीड़ में रात–रात भर इसे देखते हैं। नौटंकी की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं– (1) कथात्मक विवरण (2) फड़कते हुए संवाद। नौटंकी का लोकमंच विलक्षण है। इसका मंचन प्रायः व्यावसायिक कम्पनियों द्वारा किया जाता है। हारमोनियम, ढोलक और सारंगी सहित प्रमुख वाद्य नगाड़ा (नक्कारा) का प्रयोग होता है। संवाद पद्यात्मक होते हैं । यह अवध क्षेत्र की पारम्परिक नाट्य विधा का जीवंत रूप है। इसकी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में उसके कथ्य और शिल्प में विलक्षण प्रयोग किये गये हैं। नाटककार मुद्राराक्षस के नौटंकी को आधुनिक विषय देने में नाटककार ने अपनी रचना धर्मिता में बड़ा परिवर्तन किया और नाटक 'आला अफसर' को नौटंकी शैली में प्रस्तुत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी । उनके इस मंचन को दर्शकों द्वारा सराहा गया। 'आला अफसर' की संवादात्मकता और गीत अपनी भाषा और लय–वैविध्य में विशिष्ट है। "लोकगीत', पारसी रंगमंच की अदायगी और तर्ज तो उसमें है ही, नौटंकी के मूलभूत छंद दोहा, चौबोला, दौड़, बहरे तबील, ठुमरी, गजल कहरवा, ड़िंलोटी, कव्वाली, रसिया, बन्ना आदि के सुन्दर प्रयोग उसमें सुरक्षित हैं– विशेषकर दोहा, चौबोला, बहरे तबील छंदों का प्रयोग नौटंकी की मूलभूत विशेषताओं को नये संदर्भ में देखते हुए, किया गया है।[4]

10 वीं और 11वीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन के साथ एक विशेष सक्रियता देखने को मिली। 'यक्षगान' नामक एक विशेष नाट्य विधा का प्रचलन कर्नाटक में हुआ। यक्षगान की कथा रामायण, महाभारत, तथा भागवत आदि से ली जाती थी। युद्ध कौशल का प्रदर्शन करते हुए अंत में भक्तिभाव जगाना ही मुख्य उद्देश्य था। आरम्भ में दो बालक बलराम और कृष्ण के रूप में आते थे। दोनों सम्पूर्ण प्रदर्शन

को देखते थे। नाटक की समाप्ति के बाद उन्हे विदा दी जाती थी। यह प्रदर्शन रात भर चलता रहता था। कथानक सूर्योदय तक पूरा हो जाता था।

आन्ध्र प्रदेश की नाट्य विधा 'भामाकल्पम' है, जिसमें श्री कृष्ण और उनकी छोटी रानी सत्यभामा के जीवन प्रसंग का वर्णन किया जाता है। कृष्ण की रानियों मे सत्यभामा को विशेष संवेदनशील, ईर्ष्याग्रस्त तथा झगड़ालू कहा गया है। भामा कल्पम में ये विशेषताएँ दर्शकों को विभोर करती रहती हैं। केन्द्रीय पात्र के रूप में विदूषक की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

आन्ध्र प्रदेश से उत्कल प्रदेश जुड़ा हुआ है। "चाड' नामक नाट्य विधा का प्रचलन रहा है। इसे डाण्डानट भी कहा गया है। इसमें शिव और पार्वती के जीवन प्रसंग प्रदर्शित किये जाते हैं। उत्कल में ही वैष्णव आंदोलन के कारण "रंगसभा' नाट्य विधा का प्रचलन हुआ। इसमें कृष्ण की विभिन्न लीलाएँ प्रदर्शित की जाती थीं।

असम प्रदेश में भी भक्ति आंदोलन का प्रभाव दिखता है। वहाँ 'ओजापालि' नाट्य विधा का जन्म हुआ। इसमें ओजा नाम का चरित्र विशेष भूमिका अदा करता है। वह किसी पौराणिक कथा का गायन करता है, अन्य साथी बीच–बीच में अपने संवाद गद्य में बोलते जाते हैं। असमिया नाट्य मंच पर राम व कृष्ण के अनेक प्रसंग भी प्रस्तुत किये जाते हैं । यहाँ 'अंकिया' नाट्य विधा का भी विकास हुआ।

बिहार में भिखारी ठाकुर की "बिदेसिया' संगीतात्मक तथा अभिनयात्मक नाट्य विधा है। छोटी लोक कथा एवं गीत गायन इसकी विशेषता है। सामाजिक विषयों, नवीन समस्याओं तथा छन्दबद्ध गीतों की मधुरता के कारण इसकी शैली बिदेसिया कहलाने लगीं। 'अमली' "माटी की गाड़ी' इस माध्यम की महत्वपूर्ण प्रस्तुतियाँ रही हैं।

राजस्थान के मंच पर "ख्याल', बहुरूपिया, 'डबरी' और 'माच' आदि का प्रचलन हुआ। पंजाब में 'भाड' तथा गुजरात में "भैंवाई' का विकास हुआ। महाराष्ट्र में 'तमाशा', 'ललित', 'गोंधल' 'दशावतार' आदि प्रसिद्ध हैं। छत्तीसगढ़ का 'नाचा' तथा कश्मीर का 'भांडपथर' का प्रचलन हुआ। हिमाचल प्रदेश का "करियाला' उल्लेखनीय है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों के लोक साहित्य एवं लोक कला की व्यापक पड़ताल करने पर यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में संस्कृत काल से प्रारम्भिक नाट्य रूप स्थानीय परिवर्तित भाषा– संस्कृति एव परिवेश के अनुरूप बदलती हुई भी आज तक जारी है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित ये परम्परागत नाट्य विधायें यह सिद्ध करती हैं कि सम्पूर्ण भारत में शास्त्रीय पद्धति के नाटकों के साथ–साथ लोक नाट्य विधा की लम्बी परम्परा रही है। ये नाट्य विधाएँ सामाजिकों का मनोरंजन करने के साथ–साथ उनकी रूचि का परिष्कार करने तथा समाज के संशोधन की प्रेरणा भी देती रही हैं। ये सभी नाट्य विधाएँ हमें लोक जीवन से जोड़ती हैं तथा सुसंस्कार भी प्रदान करती हैं। वर्तमान में जन साधारण ही नहीं, अभिजात वर्ग के लोग भी इन नाट्य प्रस्तुतियों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। यह सुखद संकेत है कि विविध पर्वों एवं उत्सवों में अभिजात रंगमंच पर इनके प्रदर्शन होने लगे हैं।

संदर्भ

1. नाटक और रंगमंच, ले० डॉ0 सीताराम झा, पृ० 199.
2. नाटक का रंग विधान, ले0 डॉ0 विश्वनाथ मिश्र, पृ0 251
3. हिन्दी नाटक और रंगमंच, ले0 डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ0 जगदीश गुप्त, डॉ राम जी पाण्डेय पृ० 166
4. हिन्दी नाटक और रंगमंच, नयी दिशायें, नये प्रश्न, ले० गिरीश रस्तोगी, पृ0 83
5. हिन्दी नाट्य परिदृश्य, सं० डॉ0 धीरेन्द्र शुक्ल, पृ० 171

■ ■ ■

काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य एक विश्लेषण

डॉ0 सुबाष चन्द सिंह कुशवाहा
विभागाध्यक्ष–हिन्दी
राधेहरि राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
काशीपुर–ऊधमसिंह नगर।

साठोत्तरी पीढ़ी के जिन प्रगतिशील कथाकारों ने हिन्दी कहानी को नयी जमीन सौपने का काम किया, उनमें काशीनाथ सिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वही लेखक महान होता है, जिसकी वैचारिक पृष्ठभूमि एवं लेखकीय दृष्टिकोण में समानता होती है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन सामान्य पुराने सामाजिक मूल्यों तथा नयी आकांक्षाओं के बीच जिस अर्थद्वन्द्व को झेल रहा है। वह निरन्तर अर्थसत्ता की टकराहट से उपजी भयावह अंर्तध्वनियों को रेखांकित करते हुए समकालीन समाज में मूल्य–भ्रान्ति को महसूस करते हुए जीवन मूल्यों की पतनशील त्रासदी का शिकार हो रहे हैं। समकालीन समाज की यथार्थवादी धारा की जितनी गहरी पकड़, भाषा–शैली की सहजता और एक खास किस्म का व्यंग्य कथा साहित्य में दृष्टिगोचर होता है, उतना साहित्य की अन्य विधाओं में नहीं प्राप्त होता है। कथाकार काशीनाथ सिंह की पृष्ठभूमि प्रगतिवादी चिन्तन धारा से जुड़ी है। वे प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़े हुए लेखक हैं। उन्होंने कहा भी है–''कि मेरे चिन्तन का मोल मार्क्सवाद को पढ़ने के बाद आया।''

काशीनाथ सिंह प्रगतिशील चेतना के प्रतिबद्ध लेखक हैं। अपने लेखन के प्रत्येक दौर में वे निरन्तर सामान्य आदमी के पक्षधर रहे हैं। नगरीय जीवन के छल–कपट से परे उनका सहज ग्रामीण मन अपने खरेपन स्वभाव के साथ निरन्तर उनके साथ रहा है। लोग बिस्तरों पर (1968 ई0), सुबह का डर (1975 ई0), आदमीनामा (1978 ई0), नयी तारीख (1979 ई0), कल की फटेहाल कहानियाँ (1980 ई0), सदी का सबसे बड़ा आदमी (1986 ई0) आदि इनकी प्रमुख कहानियॉ हैं। इनकी कहानियों में सामाजिक–आर्थिक जीवन–मूल्यों के साथ–साथ सहज मानवीय सम्बन्ध, मानवीय मूल्यों का विघटन, ग्रामीण और नगरीय जीवन मूल्यों की टकराहट की पीड़ा का भाव बड़े ही मार्मिक और प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त हुआ है।

वस्तुतः इनकी लेखनी में वैविध्यता के जो आयाम दिखाई देते हैं उससे कहानी कला को पठनीयता प्राप्त होती है। लोकजीवन और ग्राम्य जीवन में सामंजस्य स्थापित कर इन्होंने रचना को निरन्तर जीवन्तता प्रदान किया है। इनके कथा साहित्य का मूल्यांकन करते हुए डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का मानना है कि–''भ्रष्ट परिवेश के साथ समझौता न कर पाना। ये जीवन के विद्रूपता को लुका–छिपाकर पेश नहीं करते। उस पर वे सीधा वार करते हैं। अपने बचाव के लिए आवरण नहीं तलाशते। वे बड़ी सहजता से बहुत गहरी बात कह जाते हैं। यही सफलता उनकी भाषा में भी है, जो अपने आसपास के जीवन से ही बेहिचक से ली गई है।''[1]

आठवें दशक का युग जनोन्मुखी संघर्ष का युग रहा है। वे लिखते हैं–''भारतीय साहित्य में आठवें दशक का जन्म उस नारे के साथ हुआ था जो तमाम क्रांतिकारी लेखकों का नारा रहा है–साहित्य सामाजिक परिवर्तन का हथियार है। इस नारे के साथ ही हमने अपनी रचनात्मक शक्ति आम जनता से ली और प्रगतिशील साहित्य की खंडित परम्परा से अपने को जोड़ते हुए अपने लेखन को 'जनवादी लेखन' का नाम दिया। यह लेखन किसी की 'हाबी' या 'प्रोफेशन', नहीं उसकी नागरिकता का दायित्व था। हम जानते हैं कि एक राजनैतिक या नौकरशाही की नागरिकता संदिग्ध हो सकती है, क्योंकि उसके अपने व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं, और सैकड़ों तरह के गलत–सही समझौते करने पड़ते हैं, मगर एक लेखक अपनी धरती का सच्चा नागरिक होता है, क्योंकि उसकी जड़े जनता में होती हैं।''[2]

कहानीकार काशीनाथ ने गाँवों के जीते–जागते चरित्र को शहरी एवं मध्य वर्ग की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया है। काशी के परिवेश से जुड़े होने के कारण इन्होंने 'काशी' के जीवन का यथार्थवादी चित्रण किया है। इनके उपन्यासों में काशी की जिन्दादिली पूर्णतः उभरकर सामने आयी है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के चलते इनमें एक सच्चे कथाकार की जिन्दादिली कभी कम नहीं महसूस होती। अपनी मार्क्सवादी विचारधारा एवं कथानक की प्रभावोत्पादकता के चलते ही काशीनाथ सिंह एक चर्चित उपन्यासकारों की श्रेणी में श्रेष्ठ माने जाते हैं।

आज के बदलते हुए यथार्थ की सही पकड़ इनकी कहानियों में सर्वत्र मिल जाती है। अपनी बात को बिना लाग–लपेट के बेबाक होकर कहने की ताकत इनकी कहानियों में सर्वत्र विद्यमान है। 'सदी का सबसे बड़ा आदमी' एक नये संदर्भ को सामने लाती हैं। जाहिर है कि

हमारे समय में यदि एक ओर बदलाव की आकांक्षा एवं प्रक्रिया तीव्र हुई है वहीं दूसरी ओर अपनी सुख–सुविधा व व्यक्तिगत उपलब्धि के लिए खुशामद करने की प्रवृति भी बढ़ी है। जो बदलाव के विरोधी हैं वे इस प्रवृति को बढ़ावा देते हैं। इस कहानी में लेखक का रचनात्मक निर्णय यही है कि जहाँ कहीं भी व्यवस्था या समाज का स्वत्व हरण करने वाली ताकतों को चुनौती देने वाला कोई भी व्यक्ति बचा हुआ है, वही बदलाव की आकांक्षा वाली इस सदी का सबसे बड़ा आदमी है। इसमें मानव मूल्यों की स्थापना पर बल दिया गया है। कहानी में शौक साहब उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपनी धनाढ्यता और फूहड़ हरकतों के कारण मानव गरिमा को लज्जित किया करते हैं। वे अपनी कोठी में बैठकर प्रायः लोगों पर पीक फेकते हैं। वे चाहते है कि पीक जब उनके ऊपर पड़े तो लोग उन्हें गालियों से तर कर दें ताकि वे उनके खराब हुए कपड़ों के बदले नये कपड़े देकर अपनी धनाढ्यता का प्रदर्शन कर सकें। उसकी इस तरह की हरकतों के बारे में लेखक का मन्तव्य है–''उन्हें ऐसे बहादुरों की तलाश रहती, जो कपड़े खराब होते ही माँ–बहन की धुँआधार गालियाँ बकना शुरू करें, उछलें–कूदे, आसमान सिर पर उठा लें, रो–रोकर मुहल्ले और राह चलतों को अपने इर्द–गिर्द जुटा लें, फिर बिलखें–बिलबिलाएँ और दया की भीख माँगते हुए, इंसाफ का वास्ता देते हुए बताएँ कि अब वे क्या पहनें, उनका क्या होगा?''[3]

इनकी चर्चित कहानी कहानी 'सुधीर घोषाल' में वर्तमान समाज में व्याप्त शोषक और शोषित वर्ग के बीच चल रहे भीषण संघर्ष और उस संघर्ष के प्रत्येक पायदान पर हारने वाले शोषित वर्ग, मजदूर वर्ग की दयनीय स्थिति का मार्मिक वर्णन किया गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित कारखानों में जीविकोपार्जन हेतु नियुक्त भोले–भाले अनपढ़ युवक–युवतियों का पूँजीवादी व्यवस्था कितना शोषण करती हैं। इसका यथार्थवादी चित्रण कथाकार ने अपनी कहानी में पूरी ईमानदारी से किया है। कहानीकार ने अपनी कहानियों में बेरोजगारी की मार झेलने वाले युवकों की पीड़ा, पुलिस वर्ग द्वारा समाज के दलित एवं शोषित वर्ग के शोषण तथा वर्तमान समय में राजनेताओं द्वारा किये जा रहे झूठे वादे एवं राजनीति की मार से बेहाल समाज की वेदना का अत्यन्त मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया गया है।

इनकी कहानियों में कस्बाई चेतना को छोड़ने की मजबूरी और नगरीय बोध को स्वीकार करने की अनिवार्यता को एक साथ इनके पात्रों को निभाना पड़ता है। काशीनाथ सिंह की कहानी 'दलदल' का नायक 20 वर्ष की लंबी अवधि शहर में बिताने के बाद भी शहरीय संस्कृति को स्वीकार नहीं कर पाता है। शहर में रहते हुए वह अपनी कोई पहचान नहीं बना पाता है। कथा नायक स्तरीय धरातल पर बल देते हुए कहता है–''भाई, बेशक यह धरती खूबसूरत है, बेहद खूबसूरत है लेकिन तभी तक, जब तक हम अपनी आँख से सोचते हैं, जब तक हमारी ऑखें हमारे हाथों के बाहर हैं और तरक्की पसंद हैं। आओ, पहले हम अपनी आँखों की जाँच करें और पक्के तौर पर यह जाँच कर लें कि हमारे पैरों के नीचे क्या है?''[4]

बाढ़ की विभीषिका के चलते आम जनजीवन ठप पड़ जाता है। लोगों को अनेकों प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती है। इसका स्पष्ट खुलासा इनकी कहानी 'सूचना' में होता है। लेखक लिखता है–''जब से बाढ़ आई है, रिक्शे मुश्किल से मिलते हैं। हालाँकि यही एक सड़क है जिसे बाढ़ ने बख्शा है। रिक्शों, इक्कों, तांगों, सायकिलों, कारों और स्कूटरों का जमघट है, हार्न और घंटियों का गूंजता हुआ शोर है, सवारियों की लूट है–सब है लेकिन रिक्शों के भाड़े दोगुने हो गए हैं इसलिए सवारियॉ भी जहाँ की तहाँ हैं और रिक्शे भी। बाढ़ का पानी सुस्त पड़े घड़ियाल की तरह पसरा है– न घट रहा है, न बढ़ रहा है। लोग इंतजार में खड़े हैं कि आखिर वह करता क्या है, चाहता क्या है?''[5]

कहानीकार ने अपनी कहानी 'पहला प्यार' के माध्यम से तरूण दिलों के पहले प्यार एवं एहसास को बड़ी संजीदगी के साथ प्रस्तुत किया है। अपनी कथा शैली के माध्यम से कथाकार ने पाठक के मन पर एक अमिट छाप छोड़ने का पूर्ण प्रयास किया है। कहानी के नायक शशांक शेखर को लोग प्यार से फत्वे गुरू कहते है। वह एक मध्यम वर्गीय परिवार का व्यक्ति है, जो एस0एस0सी0 की परीक्षा में अंग्रेजी विषय में अनुतीर्ण होने के कारण दुबारा तैयारी करने के लिए अपने भैया के यहाँ आया हुआ हैं। अपनी अध्ययनशीलता के कारण वह वास्तविक दुनिया से हमेशा दूर रहा करता हैं। कहानीकार का कहना है कि वह 13–14 साल का था। वह खिड़की पर बैठकर सारी दुनिया का नजारा लेता रहता था। ''उसकी दुनिया काँटो की दुनियाँ थी। ....पत्तियाँ, घासें, बिस खोपड़े, नेउरा, मेढ़क, चूहे, चिड़ियाँ यह उनकी दुनियाँ थी।'' वह जिस खिड़की के आगे बैठता था, उसके आगे साफ सुथरी जमीन थी, जहाँ प्रतिदिन एक बुढ़िया चिपरी पाथने आती थी। सहसा एक दिन उसे बुढ़िया की जगह एक लड़की नजर आती है, जो चिपरी पाथ कर चली जाती है। उसके लिए आज खुशी का दिन था। फत्ते गुरू पढ़ाई में ही डूबा हुआ था।

काशीनाथ सिंह की कहानियों में उनके अनेक समकालीन लेखकों की अपेक्षा विविधता अधिक दिखाई देती है। बीच के दौर की कुछ कहानियाँ सम्भवतः मार्क्सवादी लेनिनवादी आन्दोलनों से प्रभावित होकर लिखी गई थी।

उनमें अनुभूति की अभिव्यंजना प्रचुर मात्रा में हुई है।

काशीनाथ सिंह की कहानी 'कविता की नई तारीख' में मानवीय संसक्ति का उदात्त रूप देखने को मिलता है। आजादी के बाद भारत में जिस तेजी से प्रशासक समुदाय संपन्न और शक्तिशाली बना है,उस तेजी से बौद्धिक समुदाय नहीं। बौद्धिक समुदाय अड़ियल समुदाय है। उसे अपनी शिक्षा तथा बौद्धिक संपदा पर नाज है, जबकि नौकरशाह की संपदा की अवधारणा कुछ और है। आलोच्य कहानी इन दोनों समुदायों के प्रतिनिधियों को रू–ब–रू करा देती है। पूरी कहानी दोनों के बीच इसी द्वन्द्व युद्ध की कहानी है। इस द्वन्द्व युद्ध को कहानी में इतनी प्रखरता तथा नाटकीयता से प्रस्तुत किया गया है कि लंबी होने के बावजूद वह पाठक को इस द्वंद्व युद्ध के ऐंटिना से आँखें हटाने का भी मौका नहीं देती है। वे लगभग सांस रोके हुए दोनों के बीच होते प्रहार–प्रतिप्रहार तथा घात–प्रतिघात को देखते रहते हैं। इस घात–प्रतिघात में कथावाचक 'मैं' को ऐसी–ऐसी बातें सुननी पड़ती हैं, जिससे वे अपमानित हो उठते हैं। अपमान के इस दंश से छुटकारा पाने के लिए वे अपनी ठोड़ी फोड़ लेते हैं। उनकी पत्नी यह सब कुछ पीछे छिपकर देख रही थी। वह अपनी बहन को उसके पति की हरकतों के बारे में बताती हुई कहती है– ''रात–भर रोती रही हूँ.......सारी रात......सारी जवानी गुजारी है इसके साथ और मैंने किसी नशे का असर नहीं देखा इस पर–चाहे शराब हो, चाहे गांजा, चाहे भांग, चाहे दौलत! हाँ दौलत! यह धनी और दबंग से दबंग आदमी के साथ ऐसे पेश आता रहा है जैसे वह कौड़ी का भी न हो! मेरे कहने का यह अर्थ कतई मत लेना कि मैं इसके या अपने अपमान का बदला ले रही हूँ। न, ऐसा मत सोचना। बदला मैं तुमसे क्या लूँगी जिसे यही नहीं मालूम कि उसके बाप को गुजरे कितने महीने हो गए और भाई घर पर है या जेल में? नहीं, पहले पूरी बात तो सुनो! मेरी मुश्किल यह है सिर्फ कि इसने खुद अपनी ठोड़ी क्यों फोड़ ली? जान–बूझकर क्यों फोड़ी? क्या इसलिए कि यह सानू का कुछ नहीं कर सकता था? क्या इसलिए कि वह मेरा रिश्तेदार और तुम्हारा पति था?''[6]

इनकी कहानियों तथा उपन्यासों में बनारस तथा बनारस जनपद का समस्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण अपनी जीवंत अस्मिता के साथ प्रस्तुत हुआ है। बनारस का प्रतिनिधित्व करने वाली दो महत्वपूर्ण कहानियाँ 'सराय मोहन की' एवं 'पाण्डे कौन कुमति तोहे लागी' है। 'कहानी सराय मोहन की' की कथात्मक शैली में प्रेमचन्द की 'पूस की रात' कहानी कला का प्रयोग हुआ है। जहाँ प्रेमचन्द की कहानी में सर्दी की ठिठुरती हुई रात है, तेज पछुवा हवाएँ है, खेत–खलिहान और कुत्ते है। वहीं काशीनाथ सिंह ने अपनी कहानी में परम्परा से अपना प्रस्थान बिन्दु का चयन बड़ी सजगता एवं सजीवता के साथ किया है।

कहानीकार ने कहानी सराय मोहन में लगभग रहस्यमय प्रतीत होती खंडहर बनी तथाकथित 'सराय' को अपने कथा साहित्य का केन्द्र बिन्दु बनाया है। लेखक ने बड़े कौशल से तीन जातीय प्रतिनिधियों को एकत्र कर (ठाकुर, ब्राह्मण, अछूत) उच्चजाति वालों के पाखण्ड का उद्घाटन बड़ी संजीदगी के साथ किया है। 'पेट की आग' सारे जातीय दर्द और विभाजन को निरर्थक बना देती है। कहानी में ब्राह्मण और ठाकुर दोनों ने बड़ी चतुराई से मोहन को मूर्ख बनाकर सारा खाना खा जाते है। अन्ततः उसे गीत गाने के लिए मजबूर करते हैं, लेकिन मोहन अपने गीतो के माध्यम से अपनी व्यथा प्रकट करता है। मोहन के मुँह से गीत के सुरों में निकलता हुआ दे–दनादन....जैसे उसके भूखे पेट का भोजन चटकर तोंद फुलाए हुए इन ठाकुर–ब्राह्मण दल के मुँह पर तमाचों की तरह पड़ रहे हो। डॉ0 पुष्पपाल सिंह का मानना है कि–''काशी की कहानियों में व्यवस्था द्वारा आदमी के शोषण को ही नहीं उघाड़ा गया है, मनुष्य–मनुष्य के बीच के ओछे व्यवहार पर भी खुलकर लिखा गया है।''[7]

इनके कथा साहित्य की मूल चिता में हमेशा अपने वर्तमान समय का मनुष्य होता है। परिवेश और काल तो मनुष्य के संदर्भ में ही मूल्य और अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं। विभिन्न सामाजिक वर्गो में विभाजित मनुष्य हेतु जीवन मूल्यों का अत्यधिक महत्व होता है।

काशीनाथ सिंह ने शुरू में वैचारिक और वास्तविक जमीनी सच्चाइयों की राजनीतिक और सामाजिक बदलाव की कहानियाँ लिखी हैं। इन्होंने अपनी कहानियों में व्यंग्यात्मकता, देश की राजनीति एवं सामाजिक बदलाव की ओर संकेत किया है।

काशीनाथ सिंह का सन् 1972 ई0 में प्रकाशित प्रथम उपन्यास 'अपना मोर्चा' है। यह उपन्यास सन् 1968 ई0 में पूरे हिन्दी भाषी प्रदेश विशेषतः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुए भाषायी आन्दोलन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इसमें पहली बार युवा विद्रोह के अन्तर्विरोधों को औपन्यासिक रूप प्रदान किया गया है। समाज में व्याप्त अनाचार भ्रष्टाचार, गरीबी, अज्ञान और भेदभाव को दूर करने में वर्तमान शिक्षा प्रणाली और उसमें ढलकर निकले हुए छात्र कोई अहम भूमिका निभा सकते हैं? 'अपना मोर्चा' इस सत्य को बड़े तीखेपन और दो टूक ढंग से उजागर करके रख देता है।

काशीनाथ सिंह का दूसरा उपन्यास ''काशी का अस्सी' सन् 2002 ई0 में प्रकाशित हुआ। इसका कथानक पाँच वर्गो में विभाजित है। कथा के केन्द्र में बनारस का

'अस्सी' नामक स्थान है। इसमें पात्र भी वहीं के हैं। वास्तविक नामों के साथ, अपनी बोली बानी एवं लहजों के साथ सारे प्रसंग एक साथ आकर खत्म हो जाते हैं। कथा का आरम्भ कबीर के 'निर्गुण देख तमासा लकड़ी का' से होता है। दरअसल अस्सी वह खिड़की है, जहाँ से लेखक ने दुनिया दिखाई है। काशी का अस्सी की पाँच कहानियों में वैश्वीकरण की आँच को महसूस किया जा सकता है। यह सिर्फ बनारस की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की कहानी है।

प्रख्यात कथाकार काशीनाथ सिंह की रचनात्मक दुनिया का श्रेष्ठ उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' है, जिसका प्रकाशन 2008 ई0 में हुआ है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही कथाकार का कथन है–''यदि काशी का अस्सी मेरा नगर था, तो 'रेहन पर रग्घू' मेरा घर है और शायद आपका भी।'' इस उपन्यास में उदारीकरण के कारण गाँवों में हो रहे परिवर्तन को नई दृष्टि से रेखांकित किया गया है। इस उपन्यास में काशीनाथ सिंह ने पूंजीवाद की चपेट में आये समाज में मानवीय मूल्यो और मानवीय रिश्तों में आ रहे बदलावों की विकृतियों की कथा को बहुत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया हैं। अस्तित्व हेतु संघर्षरत ग्रामीण युवाओं की वेदना को अभिव्यक्त किया गया है। उनके पात्र ग्रामीण जीवन की भावभूमि पर खड़े दिखाई देते हैं, जिनके व्यक्तित्व में शहरी धूर्तता, मक्कारी एवं बेईमानी का दर्शन नहीं होता है।

काशीनाथ सिंह की कहानी कला के सम्बन्ध में कहानीकार अखिलेश का मानना है कि–''भूमण्डलीकरण के परिणाम स्वरूप संवदेना, सम्बन्ध और सामूहिकता की दुनिया में जो निर्मम ध्वंस हुआ है– तब्दिलियों का जो तूफान निर्मित हुआ है उसका प्रामाणिक और गहन अंकन है– 'रेहन पर रग्घू' यह उपन्यास। वस्तुतः गाँव, शहर अमेरिका तक के भूगोल में फैला हुआ अकेले और निहत्थे पड़ते जा रहे समकालीन मनुष्य का बेजोड़ आख्यान है।''

'महुआचरित' उनका चौथा उपन्यास है, जो आकार में छोटा है, लेकिन कथ्य बहुस्तरीय है। महुआ बेहद पढ़ाकू लड़की है, जो अपना कैरियर बनाना चाहती है, बना भी लेती है लेकिन जीवन में जो प्रेम की तड़प है। उसे किसी के सम्मुख प्रकट नहीं करती है। पहले वह छत को ही सहेली बनाती है। वह अपने मुस्लिम पड़ोसी से प्रेम करती है। यह उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण है। उनका यह उपन्यास छोटा होते हुए भी 'महुआ' जैसे चरित्र को एक विस्तृत आयाम देता है। यह उपन्यास कथा जगत में अद्यतन काल में वस्तु एवं नवीन संरचना की दृष्टि से नवीनता को समेटे हुए है। सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'उपसंहार' में कथाकार काशीनाथ सिंह विषय–वस्तु और भाषा–शिल्प की अपनी पूरी छवि के स्थापित विधान को त्याग कर अचानक नये रूप में सामने आये है। यह उत्तर महाभारत की कृष्ण–कथा पर आधृत है। यानी महाभारत युद्ध के बाद कृष्ण की द्वारका वापसी और उनके शेष जीवन की व्यथा–कथा का मार्मिक चित्रण किया गया है।

इस उपन्यास में सर्वाधिक प्रेरक प्रसंग तो अधोकाल में देखे गये कृष्ण के वे सपने है, जिसमें वे अपने सारथी दारूल से कहते हैं– ''मेरे उपदेश के बाद अर्जुन की दृष्टि बराबर उसके परिणाम पर बनी रही–अपनी प्रतिष्ठा के लिए, अपनी मर्यादा के लिए, अपने ऐशवर्य के लिए। मुझे हर हाल में युद्ध जीतना ही था चाहे धर्म भंग हो, चाहे नियम टूटे। हार जाता तो कौन–सा मुँह दिखाता दुनिया को ....उस समय मैने यह नहीं सोचा था कि जो कर रहा हूँ उसे देर–सबेर द्वारका को, मेरे घर को भुगतना पड़ेगा।'' आखिरकार कृष्ण के पैर में भी धनुर्धर जरा के तीर लग ही गये थे।

काशीनाथ सिंह की 'बाँस' कहानी एक ऐसे व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है, जो अंधविश्वास में अंधा है। अन्ध विश्वास के कारण उसे अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है। समय की नज़ाकत के चलते जब नायक की जान 'बांस' द्वारा किये गये प्रयास से बच जाती है, तबसे वह उसे भगवान की तरह मानना शुरू कर देता है। अपने कर्तव्य और धर्म का पालन करते हुए उसे अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है, फिर भी वह उसे अपने सिर पर लादकर घर ले जाता है। वह किसी के समझाने पर भी समझने को तैयार नहीं होता है। वह निरन्तर कष्ट सहता चला जाता है। धार्मिक अन्धविश्वास पर आधारित यह कहानी उन लोगों पर करारा व्यंग्य करती है, जो आधुनिक काल में भी धार्मिक रूढ़ियों में पूरी तरह से जकड़े हुए हैं।

कहानीकार की कहानी 'विलेन' समाज के एक ऐसे सीनियर व्यक्ति के जीवन पर आधारित है, जिसने अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा प्रदान कर समाज में उच्च स्तर तक पहुँचाया। आज वही बच्चे उनके लिए विलेन हो रहे हैं। ऐसे बच्चें जाँब मिलने पर अपने माता–पिता से मिलने तक नहीं आते है। अपने घर के आसपास खेलते हुए बच्चों को देखने पर उन्हें अपने बच्चों की याद आती है। उनके घर के पास पार्क में खेलते हुए बच्चे की शरारतें भी बहुत अच्छी लगती हैं। उन्हें यह महसूस होता है कि सभी के बच्चे बराबर होते है। हमारे बच्चे भी कभी इसी प्रकार की शरारतें किया करते थे। 'लाल किले का बाज' कहानी के माध्यम से कहानीकार काशीनाथ सिंह ने वर्तमान सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है। सदियों से चली आ रही परम्पराओं और सामाजिक मूल्यों को विस्मृत करने वाले नवयुवकों के प्रति करारा आघात किया गया है। यह नवयुवकों की कमजोरी है। इसे

सभी को स्वीकार करना चाहिए। आलोचना और टीका–टिप्पणी से कभी आगत समाज का भला नहीं होगा। आधुनिकता का तात्पर्य विकास की नयी राह है, न कि मूल्यों को विस्मृत करना।

साहित्य समाज का दर्पण होने के नाते समाज को प्रतिबिंवित करता है। वर्तमान समय में सामाजिक विभीषिका विभिन्न रूपों में समाज को चुनौतियाँ दे रही हैं। इन सामाजिक समस्याओं से जुझने हेतु व्यक्ति को मानसिक तथा शारीरिक रूप से समर्थ होना चाहिए। मानवीय मूल्यों को स्वीकार कर ही एक सामान्य व्यक्ति महान बनता है। अपने ज्ञान–विवेक, प्रतिभा–योग्यता के बल पर वह निरन्तर उचित एवं समाजोपयोगी निर्णय लेता रहता है।

समकालीन मनुष्य इतना व्यस्त हो गया है कि वह देश–देशान्तर की तमाम बातों की जानकारी तो रखता है, पर अपने आसपास के वातावरण तक को महसूस करने की शक्ति जैसे खो बैठा है। प्रकृति के साथ तो जैसे उसके संबंध–बिच्छेद वाली स्थिति बन गई है। उनकी कहानी 'सुख' अकेले पड़ गये मनुष्य की विडंबना को मार्मिकता के साथ रेखांकित करती है। कहानी के भोला बाबू ढलते सूर्य में अपार सुख की संभावनाओं को देखते हैं, जो मनुष्य को आह्लादित कर सकती है। उन्होंने जो अनुभव किया, जिस दिव्य ज्योति का उन्होंने साक्षात्कार किया, दूसरे लोग उस बारे में क्या सोचते हैं? उनका अनुभव क्या कहता है? यही सब जानने के लिए जिलेदार साहब, मुख्या साहब और पड़ोस में जाते हैं, लेकिन सभी लोग औसत बात कहकर चुप हो जाते है जिनसें उन्हें काफी दुःख होता है। वे सोचते हैं, 'आखिर लोग क्या होते जा रहे हैं? ....हाय! दुनिया कितनी बदल गयी है।.... कल शाम होगी। वे सभी लोगों को बुलायेंगे। सूरज दिखायेंगे। और समझायेंगे कि देखो, दुनिया चूल्हा, योजना, कचहरी, ऊँट और दूध ही सब कुछ नहीं है। सूरज भी है। पहाड़ियों के ऊपर होता है। ताड़ों के बीच में आता है। फिर कांपता है और फिर वह क्षण भी आता है, जब वह पहाड़ियों के पीछे जाता है और डूबने के पहले एक मुलायम किरण तुम्हारे गंजे सिर छोड़ जाता है। अचानक उन्हें याद आया। वे अपना हाथ सिर पर ले गये। टटोला। वह हिस्सा बिल्कुल ठण्डा था। उन्हें दुःख होने लगा–लेकिन कितने लोग हैं, जो कल भी इसे समझ सकेंगे?''[8]

कहानीकार काशीनाथ सिंह ने बेरोजगारी की भयावह समस्या से संत्रस्त नवयुवकों पर केन्द्रित 'मुसइचा' नामक कहानी की रचना किया है। इसमें 'मुसइचा' नामक बेरोजगार युवक की संवेदना को जीवन्तता प्रदान करने का कथाकार ने पूर्ण प्रयास किया है। वर्तमान समय में युवा पीढ़ी निरन्तर तनावग्रस्त होकर गली–कूचों में भटकती नजर आती है, जिसका दोषारोपण शिक्षा व्यवस्था को है तो काफी हद तक इसके जिम्मेदार आज की राजनीतिक व्यवस्था भी है। इसका शिकार मासूम युवाओं को होना पड़ रहा है। कहानी का नायक 'मुसइचा' बेरोजगारी के कारण परेशान होकर गाँव छोड़कर चला जाता है। मुसइचा आज की युवा पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता दिखाई देता है। कहानी का अंतिम वाक्य अति महत्वपूर्ण प्रतीत होता है– ''सच है कि मुझे गन्ने की तरह चूस कर फेंक दिया गया है लेकिन अगर तुम्हें आग की जरूरत है तो मुझ पर यकीन करो मैं धुँआ और बदबू नहीं करूँगा, मुझे उठा लो, उठा लो मुझे।''[9]

कहानीकार ने अपनी कहानी 'अपना रास्ता लो बाबा' में नई सभ्यता के खोखलेपन के आदर्श को बड़ी सफलता से चिन्हित किया हैं। अपनेपन का भाव हमारे मन से किस प्रकार लुप्त हो रहे हैं, इसका सशक्त चित्रण इस कहानी में बखूबी किया गया है। अफसर द्वारा वृद्ध से किये गये उपेक्षित व्यवहार को गाँव के प्रति उपेक्षा का प्रतीक कहा जा सकता है। कहानी में वर्णित है–''बाबा के घर पहुँचते ही देवनाथ और उसकी पत्नी की चिंता एकाएक बढ़ जाती है। पत्नी चाहती है कि पति कहे कि वह चले जाए। इस पर देवनाथ अपराध बोध से कहता है, 'तुम्हें कुछ पता नहीं है गाँव का। पिता के बड़े भाई हैं ये। सगे भाई। अभी दस साल पहले अलग हुए थे। अपने बेटे से ज्यादा मानते रहे हैं मुझे। ऐसे ही लौट जायेंगे तो लोग ताना मारेंगे–कहि। क्या हुआ आपरेशन का?

किस हौसले से गए थे? अपना बेटा है, आकाश–पाताल एक कर देगा, कुछ उठा नहीं रखेगा। समझा?''[10]

कथाकार की कहानी 'सिद्दीकी की सनक' यथार्थवादी भावभूमि पर आधारित है। इस कहानी में कहानीकार ने सिद्दीकी को सत्य उजागर करने वाले नायक के रूप में चित्रित किया है। सत्य को उजागर करने के कारण उसके अस्तित्व पर सवाल भी खड़ा हो जाता है। उसे सत्य को जानने के प्रयास में समाज द्वारा पागल करार दे दिया जाता है। वह खुद शहर छोड़कर चला जाता है। 'संकट' कहानी में लेखक ने मानव जीवन में सेक्स के महत्व को निरूपित किया है। घर आने पर राधो अपनी बहू के साथ शारीरिक सुख नहीं ले सकता। यहाँ पर लेखक ने इस बात को अधिक स्पष्ट और सफलता पूर्वक कहने का प्रयास किया है। वासना मानव को कितना अंधा बना देती है, इसका उत्तम उदाहरण है यह कहानी।

इन्होंने कहानियों का कथ्य इस प्रकार से वर्णित किया है कि कहानी का कथ्य किसी भी आम आदमी की पहुँच से दूर नहीं है। वे उसे आसानी से समझ सकते हैं,

क्योंकि इसका प्रमुख कारण इनकी कहानियों का विषय–वस्तु है, जो उनके आसपास होने वाली घटित–घटनाओं और संवेदनाओं पर आधारित है। कहानी का कथानक पाठकों को आसानी से समझ में आती है। इनकी कहानियों में समाज और सामाजिक संस्कृति के मूल्यों का जैसा चित्रण मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

काशीनाथ सिंह मुख्यतः ठेठ बनारसी ठाठ के कहानीकार हैं। उनकी कहानियों का 'शदेसपन' ही उन्हें अपनी पीढ़ी के साथ–साथ आधुनिक कहानी के अधिकांश कहानीकारों की कहानियों से सर्वथा उन्हें पृथक व्यक्तित्व प्रदान करता है। यह संयोग नहीं कि उनकी कहानियों तथा उनके उपन्यासों में बनारस तथा बनारस का जनपद अपने समस्त जीवंत अस्तित्व के साथ उपस्थित है।

विजयमोहन सिंह काशीनाथ सिंह की कहानी 'पांडे कौन कुमति तोहे लागी' के बारे में लिखते हैं–''यह कहानी ऐसे ही एक पंडित परिवार की कहानी है, जो अपने एक दलाल द्वारा लाये गए एक विदेशी छात्र को स्नानघर संलग्न कमरा मुहैया कराकर हजारों रूपये कमाने के सपने देखने लगता है। इस कहानी का अंत उस विडम्बनात्मक बिंदु पर होता है कि उसके छोटे–संकरे और पुराने घर में अतिरिक्त स्थान न होने के कारण, वह अपने–अपने आराध्य और नगर देवता शिव के लिए निर्धारित पूजा स्थल को तोड़कर उसे आधुनिक बाथरूम में बदल देता है।''[11]

आलोच्य दृष्टि से देखा जाय तो यह नहीं कहा जा सकता है कि इनके कथा साहित्य में सबकुछ ठीक–ठाक है। इनकी कहानियों में अन्य कहानियों की तरह ही कुछ सीमाएँ हैं। इनकी कहानियों की ओर संकेत करते हुए डॉ0 दूधनाथ सिंह का कथन है– ''कभी–कभी परिवेश से इनका लगाव इतना अधिक आंतरिक हो जाता है कि ठीक–ठाक समझायी जा सकने वाली बात बेवजह दुरूह बन जाती है। 'लोग बिस्तरों पर, चाय घर में मृत्यु, आदमी का आदमी, तीन काल कथा आदि इसी तरह की कहानियाँ हैं, जो अपने कथ्य में वजनदार होते हुए भी शिल्प और कलात्मकता के चक्कर में अपने अभीसिप्त रूप में पाठकों तक संप्रेषित नहीं हो पातीं।''[12]

इनकी कहानियों से गुजरना पाठक को न केवल पाठ्यदृष्टि से सम्पन्न करता है, बल्कि नये सवालों से भी रू–ब–रू कराता है। इनकी कहानियाँ उस जरूरी लड़ाई को जारी रखती है, जो किसी भी समाज में हाशिए पर रहकर लड़ी जाती है लेकिन केन्द्र को प्रभावित और नियंत्रित भी करती रहती है। आज की सबसे बड़ी विसंगति यह है कि मनुष्य असुरक्षा, संत्रास, मृत्युबोध और बाजारवाद से इतना तनावग्रस्त है कि वह कहीं अपने को सुरक्षित महसूस नहीं करता है। बावजूद इसके, इनकी कहानियॉ समाज में व्याप्त भूख, गरीबी, भाोषण, उत्पीड़न, आतंक, बाजारवाद और दमघोटू व्यवस्था की अच्छी पड़ताल करती है। इस आशा के साथ कि भविष्य में वे अपने पाठकों को इसी तरह सशक्त और प्रेरणास्पद रचनाएँ देकर उन्हें समृद्ध करते रहेंगे।

संदर्भ

1. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, द्वितीय महायुद्धेत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण 1996 पृष्ठ संख्या 150
2. काशीनाथ सिंह, आलोचना भी रचना है, पृष्ठ संख्या 108–109
3. काशीनाथ सिंह, 'सदी का सबसे बड़ा आदमी', काशीनाथ सिंह की संकलित कहानियाँ पृष्ठ संख्या 02
4. काशीनाथ सिंह, 'दलदल' प्रतिनिधि कहानियॉः काशीनाथ सिंह प्रथम संस्करण 2008
5. वहीं, कहानी 'सूचना' पृष्ठ संख्या 24
6. काशीनाथ सिंह, कविता की नई तारीख, काशीनाथ सिंहः संकलित कहानियाँ पृष्ठ संख्या 175
7. डॉ0 पुष्पपाल सिंह, समकालीन हिंदी कहानी, प्रथम संस्करण 1986 पृष्ठ संख्या 144
8. काशीनाथ सिंह, 'सुख' वागर्थ, संस्कृति की मासिक पत्रिका, फरवरी 2008 पृष्ठ संख्या 29
9. काशीनाथ सिंह, 'मुसाइचा' संकलित कहानियॉः काशीनाथ सिंह, पृष्ठ संख्या 35
10. काशीनाथ सिंह, 'अपना रास्ता लो बाबा' भीष्म साहनी (संपादक), 'हिंदी कहानी संग्रह, संशोधित संस्करण 2008 पृष्ठ संख्या 354
11. काशीनाथ सिंह, काशीनाथ सिंहः संकलित कहानियाँ, भूमिका
12. दूधनाथ सिंह, नयी धारा, फरवरी–मार्च, 1966 पृष्ठ संख्या 240

■ ■ ■

समकालीन कथा साहित्य में स्त्री-चेतना

डॉ. दिवाकर सिंह
सहायक प्राध्यापक – हिन्दी विभाग
उपाधि स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
पीलीभीत

साहित्य एक बहुआयामी अनुशासन है। साहित्य जब दूसरों के अनुभवों में अपने को साझीदार बनाता है तो वह आपको सामाजिक बनाता है। जो साहित्य अपने समय की वास्तविकता से सीधे टकराता और जुड़ता है वह समकालीन साहित्य के अन्तर्गत आता है। आज का हर युवा रचनाकार सामाजिक विसंगतियों एवं विषमताओं को तथ्यपरक ढंग से प्रस्तुत कर रहा है। आज का संवेदनशील कथाकार मानव–जीवन को पीड़ा और उसके अन्तर्विरोधों को उजागर कर रहा है, वह जीवन के नियति को सच्चे अर्थों में अपनी रचनाओं में व्यक्त करता है।

मन्नू भण्डारी एक समकालीन महिला कथाकार हैं। मन्नू भण्डारी की लेखनी कथा साहित्य की दोनों विधाओं कहानी और उपन्यास को समृद्ध करती है। यदि उनकी अपनी कथा–यात्रा में साहित्यिक समय की अनुगूंज है तो राजनीतिक और सामाजिक समय और यथार्थ का प्रमाणिक एवं विश्लेषणपूर्ण सूक्ष्य अंकन भी।

मन्नू भण्डारी को तीव्र संवेदनशीलता से परिपूर्ण सक्रिय कथा मन प्राप्त है। उनके कथा साहित्य में आधुनिक युग के मनुष्य के औपचारिक सामाजिक सम्बन्धों और सपाट जीवन प्रवाह के पीछे अपने भीतर टूटता, जुड़ता, चीखता, बिलखता हुआ संवेदनभील पीड़ित मनुष्य का आन्तरिक संसार पूरी आत्मीयता और तादात्म्य के साथ उपस्थित है। उनके महत्वपूर्ण उपन्यास 'आपका बन्टी' और 'महाभोज' में मानव की त्रासदपूर्ण जीवन स्थितियों को रेखांकित किया गया है। इस उपन्यास में शकुन नामक स्त्री के जीवन संघर्ष को मार्मिक ढंग से रेखांकित किया गया है। 'आपका बन्टी' नामक उपन्यास में स्त्री चेतना में एक छोटे से बच्चे मानवीय संवेदना को मन्नू जी ने रेखांकित किया है। मानव जीवन के आधुनिक संदर्भों में उनके विचार ही, उसे संवेदनशील और मानवीय बनाते हैं। सच तो ये है कि हमें इसी जिन्दगी से खोजना होगा वह अर्थ, जो मनुष्य को मनुष्य होने की प्रेरणा देता है।

आज का कथाकार मनुष्य के जीवन में झांककर, उसके जीवन की दुविधापूर्ण स्थिति एवं विडम्बनात्मक स्थितियों को उजागर करता है। समकालीन कथा साहित्य में आज की जिन्दगी के मायने बदल गये हैं, हमें जिन्दगी के सही मायने तलाशने होंगे। जो हम नहीं है वही हम दिखना चाहते हैं, यही हमारे जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है। हमारे जीवन में भूमण्डलीकरण एवं बाजारवाद का वर्चस्व कायम हो गया है, आदमी वहां चलता–फिरता आज के परिप्रेक्ष्य में बाजार बन गया है। इन्सान के जीवन की बदलती हुई तस्वीर को मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, नमिता सिंह, अल्पना मिश्र, महुआ माजी, नीला प्रसाद, संजीव शिवमूर्ति, उदय प्रकाभा, देवेन्द्र आदि के कहानियों में समकालीन परिदृश्य को आसानी से महसूस किया जा सकता है।

आज के युवा रचनाकार मनुष्य के जीवन की विसंगतियों, अकेलापन, टूटन, घुटन को अपनी कहानियों में नया आयाम प्रदान कर रहा है। हर बड़े रचनाकार का एक प्रेरक व्यक्तित्व होता है जो अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठक को संवेदनाओं के वास्तविक संसार में ले जाता है और जीवन के सही अनुभूतियों का एहसास कराता है। वही कहानी और उपन्यास जीवन के मायने तलाशने में सफल प्रतीत होते हैं जिनमें जीवन पूरी तरह से गूंथकर अभिव्यक्त होता है, वह रचना जीवन एवं साहित्य दोनों को पूरी आत्मीयता के साथ प्रभावित करता है।

मन्नू भण्डारी ने अपने लेखन में यह बात स्वीकार करी है कि कोई भी विचार या महत्वपूर्ण आईडिया जब तक जीवन से पूरी तरह गूंथ नहीं जाता, तब तक मेरे लिए उसे रचना के रूप में अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं होता।

मन्नू भण्डारी हिन्दी की उन विरल रचनाकारों में से एक हैं जिनका 'कथा साहित्य' समाज में सशक्त साहित्यिक हस्तक्षेप करने की प्रेमचन्द की संघर्षपूर्ण परम्परा में है। मन्नू भण्डारी की पहली कहानी 'मैं हार गई' समाज–रचना और साहित्य–रचना के प्रश्न को अलग मानने के दृष्टिकोण का विरोध करती है। यह कहानी साहित्यकार की लेखनी से समाज का आदर्श नायक या नेता पैदा करने की छटपटाहट, असमर्थता और पीड़ा को छिपाती नहीं है। निश्चय ही यह कहानी मन्नू भण्डारी के समस्त कथा साहित्य की कुंजी या प्रस्थान बिन्दु है। उनकी यह कहानी अपने रचे पात्रों के आदर्श, मूल्य और जीवन दृष्टि से तटस्थ ओर निर्लिप्त न रह पाने की घोषणा करती है। इसी बिन्दु पर उनका कथा

साहित्य हिन्दी कथा साहित्य के इतिहास में संवेदनात्मक और सृजनात्मक हस्तक्षेप का इतिहास रचता है। मन्नू जी का परिवर्ती कथा साहित्य 'मैं हार गई' कहानी में व्यक्त विफल लड़ाई को सफलतापूर्वक जीतने की ही लम्बी रचना–यात्रा है।

मानव जीवन के इन पक्षों को मन्नू भण्डारी का कथा साहित्य विविध कथारूपों में प्रस्तुत करता है। उनकी कई कहानियाँ बाहर नाटकीय रूप से प्रदर्शित और विज्ञापित मनुष्य के भीतर के वास्तविक मनुष्य की खोज एवं चित्रांकन करती है। उनकी महत्वपूर्ण कहानियों में 'मैं हार गई', 'त्रिशंकु', 'यही सच है', 'तीसरा आदमी', 'एखाने आकाश नई', 'क्षय', 'आपका बन्टी' और 'महाभोज' उनके लेखन की चरम उपलब्धि है।

मन्नू भण्डारी की कहानियाँ जीवन से जुड़ी हुई हैं। उनकी कहानियों में पारिवारिक जीवन, पति–पत्नी के बनते–बिगड़ते सम्बन्ध और उन्मुक्त प्रेम आदि का चित्रण सूक्ष्मता से हुआ है। मन्नू की कहानियाँ पाठक को कला दृष्टि के साथ–साथ जिन्दगी के 'आज' को समझने की दृष्टि देती है। नये युग के कहानीकारों में मन्नू भण्डारी का विशेष स्थान है। उनका समग्र साहित्य उनके सीधे–साधे व्यक्तित्व का आईना है जिनमें तेजस्वी विचार, रूढ़िमुक्त साहस और घरेलू आत्मीयता की सहजता ही मन्नू जी के लेखन की सबसे बड़ी शक्ति है। उनकी आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' साहित्यिक गलियारे में खासी चर्चा के केन्द्र में रही है।

प्रो. निर्मला जैन की पुस्तक 'कथा समय' में तीन हमसफर प्रकाशित हुई है उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि नई कहानी के दौर में मन्नू भण्डारी 'कृष्णा सोबती', 'ऊषा प्रियम्बदा', 'मैं हार गई', 'बादलों के घेरे', 'यही सच है', और 'वापसी' आदि कहानियों के माध्यम से बेहतर और ताजगी का एहसास कराया है। इन कहानियों को लेकर प्रारम्भ में काफी चर्चा रही। यह आजादी के बाद का समाज था जो बहुत तेजी से बदल रहा था। इसे परखने के लिए जिस प्रकार की संवेदनशीलता की आवश्यकता है वह इन लेखिकाओं के पास थी, मन्नू भण्डारी की कहानी 'यही सच है', 'नमिता सिंह की कहानी', 'निकम्मा लड़का' और 'महुआ माजी' की कहानी रोल मॉडल। इन कहानियों में जीवन के बदलते हुए परिदृश्य को महत्वपूर्ण ढंग से रेखांकित किया गया है। तीनों कहानियाँ न केवल अपने समय की कहानी धारा को रेखांकित करती हैं अपितु कहानीकारों की भी अलग पहचान बनाती है। यही सच है कि दीपा अकेले जीवन में संघर्ष कर रही है उसे नौकरी भी चाहिए और एक ऐसा प्रेम भी, जो उसे पूरे सम्मान के साथ प्यार भी कर सके। दीपा जैसी अकेली लड़की दोनों सपनों को एक साथ पूरा होते हुए देखना चाहती है। यह मध्यवर्ग की दुनिया है जहां लड़की पढ़ती ही इसलिए है कि वह अपने पैरों पर खड़ा होकर अपने निर्णय खुद ले सकें। यह क्षण ही सत्य है, क्षणों में बंटे समय की धारा जीवन के निर्णयों को कैसे प्रभावित करती है। मन्नू जी यह बताना चाहती हैं कि यह केवल दीपा का अकेला सच नहीं है, बल्कि उस जैसी लाखों–लाख मध्यमवर्गीय लड़कियों का सच है जिसे एक कहानी में रूपायित किया गया है। यहा कहानी अधिकांश स्त्री लेखन में स्त्रियों की बदलती मानसिकता, समकालीन जीवन परिवेभा तथा परिवार व नौकरी के बीच बढ़ते संघर्ष को अभिव्यक्त करता है।

नमिता सिंह की कहानी 'निकम्मा लड़का' मध्यमवर्ग की चिन्ताओं और जीवन की अनन्त आकांक्षाओं को विस्तार देने वाली कहानी है। मध्यवर्ग अपने स्वार्थों के लिए किसी हद तक जा सकता है। यह कहानी हमारे समय की एक असाधारण कहानी है, निजी दुःखों और अकेलेपन पर कब तक लिखा जा सकता है। कभी तो समाज के लिए जीना होगा। यह कहानी इसी विचार से उपजी है, इसलिए आज भी प्रासंगिक है और अपने समय के स्त्री लेखन में अलग से पहचान बनाती है। आज का समय बहुत तेजी से बदल रहा है। आज के दौर में बाजारीकरण और भूमण्डलीकरण ने साहित्य और समाज दोनों काफी हद तक प्रभावित किया है।

कुल मिलाकर आज की कहानी आज के जीवन की बड़ी ही तीखी यथार्थ चेतना है जो स्त्री जीवन के भीतर उफनती, कसमसाती स्त्री चेतना को उसकी पीड़ा के सन्दर्भ में अभिव्यक्त करती है।

सन्दर्भ

1. प्रो. किशोर गिरडकर : मन्नू भण्डारी का कथा साहित्य, पृ. 83,
2. अजीत कुमार : मन्नू जी के तमाम रंग, त्रिशंकु संग्रह, पृ. 19,
3. प्रदीप सी. लाड् : मन्नू भण्डारी की कहानियों के प्रमुख पात्र, पृ. 13,
4. पाखी–पत्रिका : अंक –4, जनवरी, 2012, पृ. 09, 10
5. डॉ. नामवर सिंह : कहानी, नई कहानी, पृ. 187

■ ■ ■

अम्बेडकर चिन्तन और सामाजिक आन्दोलन

डॉ. पवन कुमार सिंह
असि0प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
एम. जे. पी. रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, परिसर, बरेली

कोई भी साहित्य अपने युग की परिस्थितियों और आन्दोलनों की उपज होता है। प्रत्येक साहित्य के पीछे कोई विचारधारा कार्य करती है। इसमें दो राय नहीं हैं कि दलित–साहित्य के उदय के मूल में अम्बेडकर चिन्तन रही है। डॉ0 अम्बेडकर ने दलित–वर्ग के जीवन में आमूल–चूल परिवर्तन के लिए बहुआयामी प्रयास किए थे। वह चाहते थे कि दलित समाज किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर न रहकर अपनी मुक्ति का स्वयं प्रयास करे। नेता की भूमिका वह एक पथप्रदर्शक या एक प्रेरक से अधिक नहीं मानते थे। कार्य के आधार पर ही वह व्यक्ति के स्थान को तय करते थे। दलित समाज से वह यह अपेक्षा करते थे कि वह अपना शैक्षिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक उन्नयन स्वयं करें। डॉ0 प्रेम शंकर ने लिखा है कि राजनीतिक एवं समाज–सुधारक के रूप में डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकर के आविर्भाव के साथ–साथ उन्होंने 'मूकनायक' (1920) तथा बहिष्कृत भारत (1927) पाक्षिक पत्रों का प्रकाशन भी किया। उन्होंने दिनांक 20–7–1924 को 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा, सन् 1927 में 'समता सैनिक दल' तथा सन् 1928 में डिप्रेस्ड क्लास एजुकेशन सोसायटी' की स्थापना की और बाद में पीपुल्स ऑफ एजुकेशन सोसायटी की स्थापना की। डॉ0 अम्बेडकर के समक्ष दलित वर्ग के उत्थान हेतु बड़ा कार्य करने को था। एक ओर वे राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक समानता का अधिकार चाहते थे तो दूसरी ओर सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक समानता के अधिकार चाहते थे। तीसरी ओर विरोध, संघर्ष एवं नकार के द्वारा अपने अस्तित्व की रक्षा कर रहे थे।[1] प्रो0 रजत रानी 'मीनू' ने लिखा है कि डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों के दालित्य को दूर करने के अनेक रास्ते सुझाए अब यह चलने वालों पर है कि वह उन रास्तों पर कितनी दूर और कैसे चलते हैं।[2]

डॉ0 अम्बेडकर ने दलित शब्द का प्रयोग साहित्यकारों में जन चेतना का आह्वान करने के लिए किया। इसलिए उन्होंने कहा था कि मुझे साहित्यकारों से अपनी सारी शक्ति लगाकर कहना है कि आप अपने साहित्य निर्माण द्वारा उदात्त जीवन–मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित करें। अपने विचार संकुचित और सीमित न रखें, उन्हें विशाल बनाएँ। अपनी वाणी को चाहरदीवारी से बाहर निकलने दें। अपनी लेखनी का प्रकाश अपने आँगन में ही न फैलाएँ। इसका तेज गाँव–गाँव के गहन अन्धकार को दूर करने के लिए फैलने दें। यह भूल न जाएँ कि अपने इस देश में उपेक्षितों, दलितों और दुखियों का अपना संसार है। उनके दुःख, उनकी व्यथा समझें और अपनी सृजन शक्ति उनके जीवन को उन्नत करने के लिए सहयोग दें। यही सच्ची मानवता होगी।[3] ओमप्रकाश वाल्मीकि ने डॉ0 अम्बेडकर के एक कथन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि डॉ0 अम्बेडकर ने कहा था– हमारे जीवन, कर्त्तव्य और संस्कृति की ओर हमारा ध्यान नहीं है। अन्तर्मुखी होकर विचार करने से सामने वह भयावह स्थिति स्पष्ट हो जायेगी कि हमारे जीवन–मूल्य और सांस्कृतिक मूल्यों को बचाने के लिए दलित साहित्यकारों को जागरूकता और प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। तुम्हारे उपन्यास, कथाओं की सीता लक्ष्मण रेखा पार करके आगे जा चुकी है। दुर्योधन के दरबार में द्रोपदी का वस्त्रहरण हो रहा है। शकुन्तला को दुष्यन्त अपना सही परिचय नहीं दे रहा है, इसीलिए शकुन्तला को वनवास हो रहा है। ऐसी स्थितियों में साहित्यकारों का मैं आह्वान करता हूँ कि वे विभिन्न साहित्यिक विधाओं के द्वारा उदात्त जीवन –मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को रेखांकित करें। अपने लक्ष्य को मर्यादा में मत बाँधो, उसे और अधिक विशाल बनने दो। वाणी का विस्तार करो, अपनी लेखनी को केवल अपने प्रश्नों तक सीमित मत रखो। उसे तेजस्वी बनाओ जिससे गाँव में फैला अंधकार दूर हो सके। यह मत भूलो कि इस भारत देश में उपेक्षितों, दलितों का बहुत बड़ा विश्व है। अपनी रचनाओं के द्वारा उनकी वेदना को समझकर उनके जीवन को उज्ज्वल बनाने की कोशिश करो। यही मानवता की सच्चाई है।[4]

प्रख्यात दलित साहित्यकार डॉ0 एन0 सिंह ने लिखा है कि रैदास ने जिस हिन्दू समाज के विरूद्ध विद्रोह के बीज बोए थे, वह लगभग साढ़े तीन शताब्दी के बाद

अंकुरित हुए और दलित समाज को डॉ0 अम्बेडकर के रूप में पहली बार एक प्रखर व्यक्तित्व मिला जो इसके लिए ज्योति साबित हुआ जिसने युगों से अंधेरे में भटकते हुए दलित वर्ग को राह दिखाने का काम किया। डॉ0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म की आत्मा–परमात्मा, अवतारवाद, भाग्यवाद, पुनर्जन्मवाद जैसी सभी परिकल्पनाओं का विरोध किया और बताया कि वर्ण–व्यवस्था और जातिवाद पर आधारित शोषण–तंत्र के ये सभी उपकरण हैं। जब तक हम इनसे मुक्त नहीं होंगे तब तक हमारी परेशानियाँ दूर नहीं होंगी। इसी चिन्तन का निष्कर्ष यह निकला कि उन्होंने नागपुर की सभा में अपने पाँच लाख अनुयायियों के साथ हिन्दू धर्म त्यागकर बौद्ध धर्म को ग्रहण कर लिया। लेकिन उन्हें लगा कि इस समस्या का यह आंशिक समाधान है, रोग की जड़ें बहुत गहरी हैं। इसलिए इसे लम्बे इलाज की आवश्यकता है। अतः उन्होंने नारा दिया– शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए डॉ0 अम्बेडकर ने महाराष्ट्र के गाँव–गाँव में अध्ययन केन्द्र खोले, बम्बई से एक अखबार निकाला जिससे दलित समाज को अभिव्यक्ति के महत्व का पता चला और यहीं से दलित साहित्य के सृजन का सूत्रपात हुआ। .... 12 नवम्बर, सन् 1930 को लन्दन में गोल मेज सम्मेलन में डॉ0 अम्बेडकर ने बताया कि हिन्दुस्तान में केवल हिन्दू और मुसलमान ही नहीं रहते बल्कि वहाँ पर एक ऐसा भी वर्ग है जो कहने को तो हिन्दू है, लेकिन न तो उसे हिन्दुओं के मन्दिरों में जाने का अधिकार है, न हिन्दू धर्म के शास्त्रों को पढ़ने का और न ही हिन्दू धर्म के किसी अनुष्ठान में भाग लेने का। यह अछूत वर्ग जो हिन्दुस्तान की सम्पूर्ण जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा है, वहाँ पशुओं से भी बदत्र स्थिति में सम्पूर्ण मानवाधिकारों से वंचित होकर जीवनायापन कर रहा है। अतः इस अछूत वर्ग को स्वतंत्र प्रतिनिधित्व दिया जाए। परिणामस्वरूप 25 अगस्त, सन् 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैमजे मैकडोनाल्ड ने कम्यूनल अवार्ड की घोषणा की जिसके विरोध में गाँधी जी ने यरवदा जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। गाँधी जी की प्राणरक्षा के लिए देशभर में बड़े–बड़े हिंदू नेताओं ने डॉ0 अम्बेडकर पर जोर डालना प्रारम्भ किया और अन्ततः अम्बेडकर को 24 सितम्बर सन् 1932 को पूना पैक्ट करना पड़ा। गाँधीजी ने अनशन तो अवश्य तोड़ दिया लेकिन इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में उन्होंने अछूत जागरण और उनके नेतृत्व की आँच को महसूस कर लिया और इससे पहले कि ये अछूत हिन्दूधर्म के जाल को तोड़ फेंकें, उन्होंने हिन्दुओं को अस्पृश्यता निवारण का नारा देकर सचेत कर दिया। यह सच है कि गाँधी जी ने भारत में छूआछूत को सबसे बड़ा और सार्थक धक्का दिया, वह समाप्त तो नहीं हुई, पूरी तरह चरमरा अवश्य गई।

गाँधी जी सुधारवादी थे, परिवर्तनवादी नहीं। वह अछूतों की स्थिति में नहीं, दशा में सुधार चाहते थे, अम्बेडकर और गाँधीजी में मूलतः यही अन्तर है।........ सन् 1947 में भारत आजाद हो गया और स्वतंत्र भारत के संविधान की रचना के लिए जिस समिति का गठन किया गया, उसका अध्यक्ष डॉ0 अम्बेडकर को बनाया गया। अतः उन्होंने भारत के संविधान में समता और समानता को सबका मौलिक अधिकार घोषित कर सबको शिक्षा का समान अधिकार और दलित जातियों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण की भी व्यवस्था की जिसका परिणाम यह हुआ कि आरक्षण के कारण दलित लोग संसद और विधानसभाओं में जाने लगे। अध्ययन की सुविधा होने के कारण लोग शिक्षित होने लगे, उच्च शिक्षा के साथ ही साहित्य रचना का दौर भी प्रारम्भ हुआ।[5]

यह सच है कि अम्बेडकर चिन्तन से प्रभावित सर्वप्रथम मराठी दलित–साहित्य का उदय हुआ किन्तु यह कहना कि हिन्दी का दलित साहित्य मराठी के दलित साहित्य का अनुकरण है, नितान्त अनुचित है। हाँ, यह अवश्य माना पड़ेगा कि हिन्दी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में मराठी दलित साहित्य की भांति दलित साहित्य का विकास शीघ्रता से नहीं हो सका। डॉ0 प्रेमशंकर लिखते हैं कि 14 अक्टूबर, सन् 1950 ई0 में बाबा साहेब डॉ0 अम्बेडकर ने नागपुर में बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। इससे महाराष्ट्र में एक संस्कृति एक साहित्य का विकास हुआ परन्तु आगरा एवं अलीगढ़ में 14 अक्टूबर, सन् 1961 को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी गई। इससे दो प्रकार का साहित्य सामने आया–राजनीतिक साहित्य और सुधारवादी साहित्य। राजनीति से जुड़े हुए साहित्य ने संघर्ष प्रदान किया। अलीगढ़ से 'जमीं के तारे' तथा बम्बई से 'प्रबुद्ध भारत' का प्रकाशन हुआ। इसमें कवि एवं लेखक उद्बोधन एवं विद्रोहात्मक साहित्य लिख रहे थे। कानपुर से डॉ0 नन्दूराम ने 'निर्णय' और फिर 'भीम निर्णायक' साहित्यिक पत्रिका सन् 1977 में प्रकाशित की। इस पत्रिका ने अनेक साहित्यकार, कवियों, समाज–सुधारकों को लिखने के उपरान्त अपनी अभिव्यक्ति का सबल माध्यम प्रदान करने का कार्य किया। इस पत्रिका द्वारा ओमप्रकाश वाल्मीकि, देवीसिंह, निडर

हाथरसी, पी0डी0 टण्डन, आर0डी0 प्रसाद, रामपाल चन्द्र, अरविन्द, रामसहाय बरैया, सुखराम स्नेही, सियारामशरण आदित्य, लालसा राम आदि कवियों की कविताएँ निरन्तर दलित मुक्ति संघर्ष की सबल अभिव्यक्ति प्रदान करती रहीं।[6]

हिन्दी में दलित–साहित्य पर अम्बेडकर चिन्तन के प्रभाव को स्वीकार करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य की विकास–यात्रा पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि दलित साहित्य की जितनी भी परिभाषाएँ हैं, उनका एकमात्र स्वर है– सामाजिक परिवर्तन। अम्बेडकरवादी विचार ही उसकी एकमात्र प्रेरणा है।..... आज दलित साहित्य चर्चा के केन्द्र में है। वैसे भी दलित साहित्य के अनेक विद्वान दलित साहित्य का इतिहास पुराना मानते हैं। कवियों, भक्त कवियों की रचनाओं में दलित चेतना के सूत्र बीज रूप में मानते हैं। 'सरस्वती' में प्रकाशित हीरा डोम की कविता को भी कई विद्वान पहली हिन्दी दलित कविता मानते हैं। अछूतानन्द के आन्दोलन और उनकी रचनाओं में सामाजिक उत्पीड़न को स्पष्ट देखा जा सकता है। आजादी के बाद भी अनेक दलित कवि हुए हैं, जिन पर गाँधीवाद का प्रभाव ज्यादा है। उनमें हरित जी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। माताप्रसाद, मंशाराम विद्रोही आदि ने बहुतायात में दलित लेखन किया है।

लेकिन दलित साहित्य की प्रेरणा जब अम्बेडकर दर्शन को स्वीकार कर लेते हैं तो कुछ तथ्य स्वयं ही विश्लेषित हो जाते हैं। सातवें दशक में शिक्षित होकर कार्यक्षेत्र में उतरे दलित लेखकों की जद्दोजहद और संघर्ष ने हिन्दी दलित साहित्य की जो भूमि तैयार की उसका नोटिस गैर–दलितों ने काफी विलम्ब से लिया जबकि दलित पत्र–पत्रिकाओं में यह गूँज पहले ही अपने पैर जमा चुकी थी। सातवें दशक में 'निर्णायक भीम' पत्रिका ने दलित लेखकों को जो एक मंच प्रदान किया उसकी बदौलत हिन्दी के कई नाम उभरकर सामने आए। इस बीच अनेक दलित पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन इस संघर्ष के लिए अनुकूल साबित हुआ।[7]

डॉ0 अम्बेडकर के चिन्तन के फलस्वरूप दलितों में अपनी अलग संस्कृति की भावना का विकास हुआ है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है कि दलितों में अपनी अलग संस्कृति के निर्माण की भावना पनपी है। इस संस्कृति के सवाल पर कई विद्वानों की भौह टेढ़ी हो जाती हैं जो अभी तक दलित साहित्य की अवधारणा को ही स्वीकार नहीं कर पाए, दलित–संस्कृति के नाम से ही आहत महसूस करेंगे। भारतीय संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, वैदिक संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति उनके शब्दकोश में है लेकिन दलित संस्कृति भी कोई अलग संस्कृति है, यह उनके मन में शंकाओं को जन्म देती है। दलितों को अस्पृश्य मानकर उन्हें समाज और धर्म से बहिष्कृत किया गया। यहाँ तक कि विद्योपार्जन पर भी रोक थी। धार्मिक संस्कार जैसे उपनयन संस्कार दलित के लिए नहीं थे। मन्दिरों में पूजा करना निषेध था। बस्तियों से बाहर रहने को बाध्य किया जाता था। तमाम अनुष्ठानों से वंचित रखना व्यवस्था का हिस्सा था। तब उनकी भाषा, उनके संस्कार, उनका जीवन, उसकी उपासना–पद्धति, उनकी कला, उनका साहित्य, पारम्परिक साहित्य की कल्पना और मापदंडों में कैसे समाविष्ट हो सकता है। उनका अलग अस्तित्व सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर साफ–साफ दिखाई पड़ता है।

उनकी संस्कृति में गुण–दोष हो सकते हैं लेकिन इतना तो निश्चित है, कल का दलित और आज का दलित भिन्न है। यही अन्तर सांस्कृतिक निष्ठा का निर्माण कर रहा है। देवी–देवताओं में श्रद्धाभाव, मन्दिर, ईश्वर, पुनर्जन्म, मनुष्य और मनुष्य के बीच घृणा भाव उत्पन्न करने वाले धर्मशास्त्र, ग्रन्थ, महाकाव्य, नर्क–स्वर्ग, मनुष्य को गुलाम बनाने वाले प्रपंच, कर्मकाण्ड को नकारते हुए आज का दलित अपनी अलग पहचान और संस्कृति निर्मित कर रहा है। आत्म विश्लेषण, अस्मिता की तलाश, जीवन–मूल्यों की खोज, मानवीय सरोकारों की पड़ताल आदि–आदि दलित संस्कृति के मूल आधार हैं। इन सवालों से ही दलित चेतना का उद्गम है और डॉ. अम्बेडकर के जीवन–दर्शन, सामाजिक–संघर्ष से ऊर्जा पाकर साहित्यिक अभिव्यक्ति में परिवर्तित हुआ है।[8]

जाति–व्यवस्था –

भारत की जाति व्यवस्था पर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने काफी कुछ लिखा है। उनकी 'सफाई देवता' और 'मुख्यधारा और दलित साहित्य' नामक दो पुस्तकें तो जाति व्यवस्था पर ही लिखी गई हैं। 'जूठन' जातिगत वैषम्य पर रचित उनकी अनूठी कृति है। उनकी कहानियों और कविताओं तथा अनेक लेखों में जाति विषयक विचार प्रकट हुए हैं।

डॉ0 अम्बेडकर ने जब सन् 1920 में 'मूकनायक' पत्रिका का प्रकाशन किया था तो उसके प्रवेशांक में ही उन्होंने अपने जाति भेद विषयक विचार इस तरह प्रकट किए थे– हिन्दू समाज एक बहुमंजिली इमारत की तरह है जिसमें प्रत्येक जाति इस मीनार का एक–एक तल है। ध्यान देने की बात यह है कि इस मीनार में बाहर निकलने को सीढ़ियाँ नहीं हैं। एक तल से दूसरे तल में आने–जाने का कोई मार्ग नहीं है। जो जिस तल में जन्म लेता है वह उसी तल में मरता है।[9] यद्यपि यह जाति–प्रथा सभी धर्मों में विद्यमान रही है किन्तु डॉ0 अम्बेडकर ने खासतौर पर हिन्दूधर्म में व्याप्त जाति प्रथा की जमकर आलोचना की। हिन्दुओं की जाति–श्रेष्ठता को केन्द्र में रखकर उन्होंने लिखा–हिन्दुओं की नीति और आचार पर जाति–प्रथा का प्रभाव अत्यधिक शोचनीय है। जाति–प्रथा ने जन–चेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जाति–प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक ही सीमित है। गुणों का आधार भी जाति है और नैतिकता का आधार भी जाति ही है। सही व्यक्ति के प्रति भी (अगर उनकी जाति का नहीं है।) तो उसके प्रति उनकी कोई सहानुभूति नहीं होती, गुणों की कोई सराहना नहीं है, जरूरतमंद के लिए कोई मदद नहीं है। दुखियों की पुकार का कोई जवाब नहीं। अगर सहायता दें तो वह केवल जाति मात्र तक सीमित है। सहानुभूति है लेकिन अन्य जातियों के लोगों के लिए नहीं। क्या हिन्दू किसी भी महान और अच्छे व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार कर सकते हैं और उनका अनुसरण कर सकते हैं? यदि कोई महात्मा हो तो उसकी बात अलग है, लेकिन सामान्य उत्तर यही है कि हिन्दू नेता किसी नेता का अनुसरण तभी करेगा जब वह उसकी जाति का हो। ब्राह्मण, ब्राह्मण नेता को ही मानेगा, कायस्थ, कायस्थ नेता का ही अनुसरण करेगा आदि–आदि। हिन्दुओं में इस बात की इच्छा शक्ति ही नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकें। गुणों की सराहना तभी होती है, जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूरी नैतिकता उतनी ही भिन्न कोटि की है जितनी जंगली जातियों की होती है। आदमी कैसा भी सही या गलत हो, अच्छा या बुरा हो, बस अपनी जाति का होना चाहिए। न उन्हें गुणों की प्रशंसा से मतलब है, न बुराई के विरोध से। उनके लिए मुद्दा सिर्फ इतना है कि अपनी जाति का पक्ष लें या नहीं। क्या हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों–स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है।[10] सन् 1927 में 'बहिष्कृत भारत' में डॉ0 अम्बेडकर ने लिखा कि केवल रोटीबंदी समाप्त करने से जातिभेद का उन्मूलन नहीं होता क्योंकि रोटी–व्यवहार शुरू होकर भी बेटी–व्यवहार का भेद तो बचा ही रहता है। उसे समूल नष्ट करना चाहिए। जातिभेद की बुनियाद बेटीबंदी पर है, रोटीबंदी पर नहीं।[11]

डॉ0 अम्बेडकर ने जाति–प्रथा को दासता से अधिक घातक और अमानवीय बताया था। उन्होंने लिखा है कि The slave status carried no stigma on the man in the society. He was touchable and even respectable...... untouchable inworse than slavery because a slave has personality in the society, the untouchable has no personality, has been made aboundantly clear untoucahbility is worse than slavery because it carries no such security as he livelyhood as the latter does. No one is responsible for the feeding, housing and clothing of untouchables. From this point of view untouchablity is not only worse than slavery but is positively cruel as compared to slavery. The second or rather the third difference between untouchablity and slavery was never obligatory, but untouchablity is obliged.[12]

इसके साथ ही डॉ0 अम्बेडकर ने ग्रामीण संस्कृति को भारतीय गणतन्त्र की अवधारणा का घोर शत्रु मानते हुए भारतीय गाँवों को हिन्दू–व्यवस्था के कारखाने माना था। उनका कहना था कि–

Hindu village is a working plant of the Hindu social order. One can see there the Hindu social order in operation in full swing. The aveage Hindu is always in ecstasy when ever he speaks of the Indian village. He regards it as an ideal form of social organization to which he believes there is no parallel any where in the world. It is claimed to be a special contibution to the theory of social organization for which India may well be proud of[13]

जाति के उद्भव पर प्रकाश डालते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि यदि प्राचीन भारत में जाति के उद्भव और इसकी परिभाषा पर दृष्टिपात करें तो विद्वानों द्वारा स्थापित कई सिद्धान्त, विशेष रूप से आर्यों का रक्त सम्मिश्रण से बचाव का सिद्धान्त आर्थिक और राजनीतिक वर्चस्व का सिद्धान्त दिखाई पड़ता है। चाहे सिद्धान्त कोई भी

 ISSN : 0975-5403

रहे हों पर जाति जन्मा होती है और इसी कारण हिन्दू मानसिकता में जाति जन्म से लेकर मृत्यु तक साथ नहीं छोड़ती है।

जाति का मूल ऋग्वेद के दशम मंडल का पुरुष–सूक्त है जो कहता है कि पुरुष (ब्रह्मा) के सिर से ब्राह्मण, बाँहों से क्षत्रिय, जंघाओं से वेश्य तथा पैरों से शूद्र का जन्म हुआ है। इसे श्रम–विभाजन कहकर महिमा मंडित किया गया था जबकि वास्तविकता यह है कि यह श्रम विभाजन नहीं श्रमिक–विभाजन था, जो ब्राह्मणों के – को कायम रखने के लिए रचा गया था। सबसे पहले इस व्यवस्था का विरोध बुद्ध ने किया बौद्ध–विहारों की जीवन–पद्धति को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हुए बुद्ध ने एक सशक्त प्रहार किया था। उसके बाद विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों जैसे हिन्दू धर्म से अन्य धर्मों में धर्मातरण, ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों में पलायन, मूल निवासी होने की अवधारणा आदि ने इस समस्या के उन्मूलन में मामूली प्रभाव छोड़ा है। 'जाति' समाज में अपने वर्चस्व और संसाधनों के उपभोग से जुड़ी हुई है।

गाँधी वर्ण–व्यवस्था को भारत की विश्व–सभ्यता की एक अप्रतिम देन मानते थे। वे 'जातिप्रथा' और 'अस्पृश्यता' के उन्मूलन के हिमायती नहीं थे। वे लिखते हैं– मेरा मतलब यह है कि जो आदमी भंगी के रूप में पैदा हुआ है, उसे भंगी के काम से ही जीविका प्राप्त करनी चाहिए और इसके बाद वह अपनी पसंद का कोई और काम कर सकता है क्योंकि एक भंगी भी अपने मेहनताने का उतना हकदार है जैसे एक वकील या आपका अध्यक्ष। मेरे अनुसार यही हिन्दुत्व है। पूरी दुनिया में इससे अच्छा कम्युनिज्म नहीं है। वर्णाश्रम धर्म गुरूत्वाकर्षण के नियम की तरह भी काम करता है। वर्ण का नियम गला काटने वाली प्रतियोगिता का विरोधी है।

गाँधी का यह वक्तव्य जाति–व्यवस्था के समर्थन की एक मजबूत कड़ी है क्योंकि जाति–व्यवस्था से उत्पन्न तमाम विषमताओं, पीड़ाओं और उत्पीड़न वे अनदेखा करते हैं।[14]

कुछ लोग यह कहते हैं कि जाति–प्रथा धीरे–धीरे समाप्त हो रही है। ऐसे लोगों को आड़े हाथों लेते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि भारत में जाति का मसला बहुत जटिल है जो पिछले तीन हजार वर्ष के लम्बे ऐतिहासिक काल में जटिल से जटिलतर होता गया है। इस मसले ने भारतीय जीवन को लगातार अपनी गिरफ्त में जकड़कर रखा है। समाज की आंतरिक धारा में जाति हर एक बिन्दु पर सामाजिक रिश्तों को तय करती है। जो जाति–व्यवस्था के पक्षधर हैं, वे इस पर बात करना धर्म और संस्कृति के विरूद्ध मानते हैं। इसके अस्तित्व को नकारते हैं। यहाँ तक कहते हैं कि जाति अब पुरानी बात हो गई है। अब जाति पर बात करना, समाज में जहर फैलाना है, घृणा को बढ़ावा देना है जबकि वे स्वयं घृणा और जहर फैलाने का कार्य कर रहे होते हैं कभी जानबूझकर तो कभी अजनाने में। वास्तविकता में इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं, जिसने सामान्य जीवन की सोच और दृष्टि को प्रभावित करके सहज और सामान्य गुण में परिवर्तित कर दिया है। पारिवारिक स्तर पर बच्चों के संस्कारों में जाति के बीज डाल दिए जाते हैं। स्कूल जाने वाले बच्चों को हिदायतें दी जाती हैं कि दलित बच्चों से दूर रहें। .... भारत में जाति जन्म के साथ शुरू होती है और मरने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ती है। कुछ लोग यह दावा करते हैं कि समाज में अब जाति की समस्या नहीं हैं लेकिन वे उन समाचारों को अनदेखा करते हैं जो हर रोज अखबारों में छपते हैं। हर रोज घटने वाली इन घटनाओं से यह पता चलता है कि समूचे देश में पुरातन पंथी कट्टरवादिता अपने चरम पर है। लोकतंत्र मात्र एक दिखावा–भर होकर रह गया है।[15]

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने ग्रामीण जीवन के नरक को भोगा है। इस सन्दर्भ में वह लिखते हैं कि भारतीय साहित्य चाहे वह संस्कृत साहित्य हो या हिन्दी, ग्रामीण जीवन के प्रति अगाध श्रद्धाभाव रखता है। ग्राम्य जीवन की महानता का बखान करते नहीं थकता लेकिन एक दलित के लिए ग्रामीण जीवन किसी नर्क से कम नहीं है। प्रत्येक हिन्दू की सुदृढ़ मान्यता है कि भारतीय गाँव सामाजिकता के आदर्श मानक हैं। भारतीय संविधान मसौदे पर चर्चा करते समय संविधान सभा के हिन्दू सदस्यों ने इस व्यवस्था के पक्ष में कहा था– India constitution should recognize the Indian village as its base of the constitutional pyramid of auto nomous administrative units with its own legislature, exeutive and Judiciary लेकिन दलितों के दृष्टिकोण से यह महान विनाशक होता। इसके लिए संविधान सभा को धन्यवाद देना चाहिए कि इसे मान्य नहीं किया।[16]

दलित–पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि का कथन है कि दलित की पीड़ा है कि उसे मनुष्य की योनि में जन्म लेने के बावजूद मनुष्य रूप में जीने की स्वीकृति नहीं मिलना, अगर दलित को मनुष्य का जन्म लेने के बावजूद मनुष्य के रूप में जीने की स्वीकृति नहीं मिलेगी तो जाहिर है, मनुष्य के रूप में जीने का अधिकार और अवसर भी नहीं मिलेगा। यानि दलित को मनुष्य नहीं मानने के लिए इस तरह का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तंत्र रचा गया है कि उसे मनुष्य बनने ही न दिया जाए।

दलितों, गैर–दलितों के बीच यह घृणा हजारों साल पुरानी है। जब कोई दलित अपनी अस्मिता के लिए उठकर खड़ा होता है या जातीयता की चारदीवारी से बाहर आना चाहता है तो उस पर जातीय घृणा फैलाने का आरोप लगा दिया जाता है।

वक्त बदल जाने के बावजूद सवर्णों के मन में दलितों के प्रति घृणा कम नहीं हो रही है। पेड़–पौधों, पक्षियों, पशुओं को पूजने वाला हिन्दू दलितों के प्रति इतना असहिष्णु क्यों है?

जब तक यह पता नहीं होता कि आप दलित हैं तो सब कुछ ठीक रहता है, जाति मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है। दलित होने की पीड़ा नस–नस में उतर जाती है। गरीबी, अशिक्षा, भिन्न–भिन्न दारूण जिन्दगी, दरवाजे से बाहर खड़े, रहने की पीड़ा भला अभिजात्य गुणों से सम्पन्न सवर्ण हिन्दू कैसे जान पाएगा?17

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलितों में नई चेतना के प्रस्फुटन के लिए डॉ0 अम्बेडकर को ही श्रेय देते हैं। वह लिखते हैं कि आज दलितों में एक नई चेतना पैदा हुई है। उसका श्रेय डॉ0 अम्बेडकर को जाता है। समूचे भारत में दलितों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी छाप छोड़ी है फिर भी दलित होने का जो खामियाजा उन्हें भुगतना पड़ता है वह उनके प्रगति पथ में रोड़ा बनकर खड़ा है।[18]

सन्दर्भ सूची:–

1. दलित साहित्य, चिन्तन के विविध आयाम, पृ॰ 57–58
2. नवें दशक की हिन्दी दलित कविता, पृ॰ 40
3. सारिका सं. कमलेश्वर, दलित साहित्य (मराठी), अप्रैल–1975
4. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, पृ॰ 72
5. दलित साहित्य : चिन्तन के विविध आयाम, पृ॰ 121–122
6. वही, पृ॰ 64–65
7. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पृ॰ 167
8. वही, पृ॰ 31–32
9. मूकनायक (प्रवेशांक) –1920 (अनुवादक श्यौराज सिंह बेचैन) पृ॰ 20
10. बाबा साहब डॉ॰ अम्बेडकर : सम्पूर्ण वांड्मय (सं. डॉ॰ श्याम सिंह शाशी) पृ॰ 77–78
11. बहिष्कृत भारत, जुलाई, 1927
12. मुख्यधारा और दलित साहित्य (ओमप्रकाश वाल्मीकि) से उद्धृत, पृ0 85
13. वही, पृ॰ 85–86
14. वही, पृ॰ 80–82
15. वही, पृ॰ 80 एवं 86
16. वही, पृ॰ 86
17. वही, पृ॰ 95–96

वहीं, पृ॰ 91

■ ■ ■

दलित साहित्य और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

डॉ. आलोक बिहारी लाल
एसो. प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
भारतीय महाविद्यालय, फर्रुखाबाद

भारतीय साहित्य में नवीनतम एवं अनुपम बदलाव के रूप में साहित्य उभर कर हमारे सामने आया है वह है दलित साहित्य। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं बल्कि समय की मांग के अनुकूल ही है। भारतीय साहित्य में यह बदलाव निरंतर घटित होता रहता है। आदिकालीन भारतीय समाज का जो स्वरूप था उसी के अनुकूल साहित्य की रचना हुई। मध्यकाल में फिर बदलाव आया और एक दूसरे प्रकार का साहित्य रचा गया। रीतिकाल का साहित्य और आधुनिक काल का साहित्य भी समयानुकूल ही परिवर्तित हुआ। हर युग में समाज एवं समय की मांग के अनुरूप साहित्यिक रचनां होती हैं। यह तथ्य भी हमारे सामने है कि जिस समाज एवं समय की मांग के अनुरूप साहित्यिक रचनाएँ शुरू होती हैं उस समय अनगिनत रचनाएँ होती हैं किन्तु मान्यता उनमें से कुछ एक रचनाकार की रचनाओं को ही मिलती हैं । उदाहरण के लिए हम छायावाद के दौर को लें। छायावाद को स्थापित करने के लिए चार रचनाकार प्रसाद, पंत, निराला एवं महादेवी ही काफी रहे। ऐसा नहीं है कि उस समय और कवि नहीं हुए होंगे लेकिन जो सशक्त रचना कर जाता है उसे ही मान्यता मिलती है। दलित साहित्य भी आज के समय की मांग के रूप में हमारे सामने आया है। किन्तु ऐसा नहीं है कि आज के दलित साहित्य की कोई पृष्ठभूमि न हो। इस साहित्य की अपनी एक लम्बी परम्परा रही है और आज इसके स्वरूप में जो बदलाव आया है वह समयानुकूल एवं सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप आया है।[1] हिन्दी में दलित साहित्य पर चर्चा करने से पूर्व यह आवश्यक हैं कि हम इसके अखिल भारतीय स्वरूप पर विचार करें। जब हम दलित के अखिल भारतीय स्वरूप पर विचार करने बैठेंगे तो पायेंगे कि इस प्रकार के साहित्य की एक लम्बी परम्परा रही है और इसका एक वैचारिक आधार रहा है। इसी स्थान पर हमें दलित साहित्य की इतर साहित्य के साथ तुलना करने की जरूरत भी पड़ेगी। दलित साहित्य तथा इससे अलग के साहित्य की तुलना करने पर यह तथ्य स्पष्ट रूप से दिखाई देगा कि दोनों की विचारधारा या चिंतनधारा में मौलिक अंतर है। एक चिंतरधारा के अन्तर्गत वेद–पुराण, स्मृति आदि का समावेश हो जाता है तो दूसरी धारा में चार्वाक, बुद्ध, नाथ, सिद्ध एवं कबीर की चिंतनधारा का समावेश हो जाता है। पहली चिंतनधारा में इस बात पर जोर दिया जाता है कि अमुक ग्रंथ में यह लिखा है। अतः उसे मानकर चलना चाहिए। इससे परलोक सुधरेगा। जबकि दूसरी धारा में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि जो सामने है उसे देखो, समझो, विचार करो और फिर आगे बढ़ो। इसमें परलोक की चिंता की बात नहीं कही जाती बल्कि इस जीवन में जो सामने है उसी पर ध्यान देने की बात कही जाती है । इस चिंतनधारा के केन्द्र में मानव तथा उसकी बेहतरी के उपाय हैं न कि भगवान, भाग्य या अन्य काल्पनिक मान्यताएँ, इन्हीं दोनों प्रमुख चिंतनधाराओं के आधार पर समय–समय पर साहित्यिक रचनाएँ होती रही।

यह विषय अधिकतर लोगों के लिए अब नया और अपरिचित नहीं है। फिर भी मैं स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करना चाहूँगा कि दलित साहित्य क्या है। वास्तव में इस देश में वर्ण व्यवस्था है। जाति व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज का बहुत बड़ा हिस्सा दुःख भोगने के लिए, विवश किया गया है। अपने अधिकारों से वंचित किया गया है। इन्हीं विसंगतियों को दूर करने के लिए, समाज में समानता एवं बंधुत्व स्थापित करने के लिए, अपना अधिकार पाने के लिए दलित साहित्य की रचनाएँ की जा रही है।

अखिल भारतीय स्तर पर इस तरह के साहित्य की रचना की जा रही है । मराठी में तो यह साहित्य मुख्यधारा के साहित्य में आ चुका है। महात्मा ज्योतिबा फुले और भारत रत्न डॉ० भीमराव अम्बेडकर द्वारा पैदा की गई उर्वरा भूमि पाकर वहाँ इस साहित्य का सशक्त रूप उभर कर आया। हिन्दी में दलित साहित्य की अपनी एक अलग पृष्ठभूमि रही है जिसका उल्लेख मैं आगे करूँगा। वर्तमान हिन्दी साहित्य के उभरने पर साहित्यिक जगत में हलचल होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि एक नए मापदण्ड के साथ एक नए प्रतिमानों के साथ, एक नई प्रकार की भाषा शैली आदि के साथ इसका आगमन हुआ। जब मराठी का दलित साहित्य उभरा था, उस समय वहाँ भी ऐसी हचचल मची थी। दलित साहित्य की परिभाषा को लेकर कई सवाल खड़े हुए। मसलन क्या साहित्य को भी जाति के आधार पर बाँटा जाएगा?क्या साहित्य में भी आरक्षण लागू होगा ?क्या दलित साहित्य सामान्य साहित्य से अलग है ? क्या केवल दलित लेखकों द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य के अन्तर्गत आएगा। आदि–आदि। विद्वानों के बीच, लेखकों के बीच, आलोचकों के बीच, सभाओं में, सम्मेलनों में, बैठकों में

यह मुद्दा चर्चा का विषय बन गया। काफी वाद–विवाद तथा आलोचना के बाद यह तथ्य उभर कर सामने अया कि 'दलित चेतना से मुक्त दलित लेखकों द्वारा रचा गया साहित्य की दलित साहित्य कहलाएगा।"[2] हिन्दी के विद्वानों एवं आलोचकों ने सह स्वीकार किया कि सामान्य वर्ग द्वारा दलित चेतना से युक्त साहित्य दलित चेतना का साहित्य तो कहलाएगा लेकिन केवल दलित लेखकों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य कहलाएगा। इस परिभाषा के पीछे एक पक्का आधार है, क्योंकि एक दलित लेखक जब लिखता है तब उसका भोगा हुआ यर्थाथ उतर कर साहित्य में आता है। उसकी पीड़ा की दूसरे के साथ तुलना नहीं कर सकते हैं। दूसरी ओर जब सामान्य वर्ग का लेखक दलित जीवन की पीड़ा को देखकर कलम उठाता है। वह उसका भोगा हुआ यर्थाथ नहीं, बल्कि देखा और सुना यथार्थ है अनुभूति की तीव्रता में अंतर जरूर आएगा लेकिन लेखन में न्याय दलित लेखक ही कर पाएगा। सामान्य वर्ग का लेखक जहाँ दया और साहनुभूमि की सीमा तक जाकर रूक जाता है वहीं दलित लेखक इससे आगे बढ़ कर विद्रोह तथा स्वाभिमान को प्रकट करता है। उसका आक्रोश यथास्थिति को बदलने के लिए प्रकट होता है। न कि सामान्य वर्ग के लेखकों की तरह दया एवं सहानुभूति के अन्तर्गत यथास्थिति को बनाए रखने के लिए। दलित साहित्य भारतीय समाज में पूर्ण परिवर्तन की मांग को रखता है। उसका लक्ष्य ही है पूर्ण सामाजिक परिवर्तन ।[3]

दलित साहित्य का केन्द्र बिन्दु

दलित साहित्य परंपरागत साहित्य के उपरोक्त तमाम कुसंस्कारों को नकारता है। वह न तो परंपरागत साहित्यिक परिभाषा को स्वीकारता है और न ही उसके सौन्दर्यशास्त्र को। दलित साहित्य भुक्तभोगियों को साहित्य है। इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं कि एक व्यक्ति रास्ते पर जा रहा है और उसे रास्ते पर पड़े ईंट से चोट लगी, उस चोट का अनुभव उसी व्यक्ति को होगा और उसकी पीड़ा सच्ची पीड़ा होगी। दूर खड़ा व्यक्ति जिसने इस घटना को देखा है, उसे उस चोट खाए व्यक्ति से सहानुभूति भले हो उस तरह की पीड़ा नहीं हो सकती। सहानुभूति प्रकट करने वाला तो उस घटना को भूल भी जाएगा लेकिन चोट खाया व्यक्ति पीड़ा को भूल नहीं सकता। दलित साहित्य का अपना सौन्दर्यशास्त्र है इसमें बिना भेद–भाव के मानव को समान रूप से स्थान प्राप्त है। भगवान, राजा, उच्चकुल, उच्च जाति जैसी किसी बात को इसमें स्थान नहीं। केवल स्थिति को स्पष्ट करने के लिए प्रसंगवश इसका उल्लेख किया गया है। भारतीय समाज के लिए यह विडम्बना का विषय ही है कि एक ओर जहाँ दुनियां के अन्य देशों में जो भी पुरानी सड़ी–गली मान्यताएं थीं और जिससे समाज और राष्ट्र की उन्नति में बाधा उपस्थित हो रही थी उसको वहाँ के लोगों ने नकार दिया तथा उसे समाप्त कर नई विचारधारा को अपनाया। जिससे समाज और राष्ट्र का सर्वांगीण विकास हो लेकिन दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि भारत में ऐसा नहीं हुआ। तमाम प्रयत्नों के बाबजूद यहां की सामाजिक व्यवस्था उसी प्रकार ढोई जा रही है जिस प्रकार बंदरियाँ अपने मरे हुए बच्चे की लाश को दबोचे रहती है । उस बंदरिया को चाहे उस लाश से बदबू आए चाहे जी मचलाए कोई फर्क नहीं पड़ता।[4] ठीक इसी प्रकार भारतीय समाज अपनी पुरानी सड़ी–गली सामाजिक व्यवस्था को ढो रहा है। उस सद्राध से चाहे जो नुकसान हो उसे फर्क नहीं पड़ने वाला ।

दलित साहित्यकारों ने भारतीय समाज में व्याप्त इसी सड़ांध को दूर करने का संकल्प लिया है। उसकी लेखनी ऐसे साहित्य का निर्माण कर रही है जिससे मनुवादियों में संवेदना जागे और वे कंधे से कंधा मिलाकर भारतीय समाज में व्याप्त इस सड़ांध को दूर करने में सहायक बने। साहित्य में दलित जीवन को लेकर भी रचनाएं होती रही लेकिन इस वर्ग के प्रति केवल दया एवं सहानुभूति का चित्रण ही होता रहा। सवर्ण लेखकों के अन्दर कुण्डली मार कर बैठा ब्राह्मणवाद का सर्प महेशा फुफकारता रहा इसलिए ये लेखक दलितों के प्रति दया और सहानुभूमि से आगे नहीं बढ़ पाए। महात्मा ज्योति राव फुले और डॉ0 अम्बेडकर की विचारधारा से प्रेरित होकर दलित साहित्यकारों ने ही परंपरागत साहित्यिक सीमाओं को लांघकर विद्रोह और संघर्ष तथा स्वाभिमान और अधिकारों से युक्त रचनाओं की ओर अग्रसर हुए।[5] दलित साहित्य का सीधा संबंध सामाजिक आंदोलन की साहित्यिक प्रतिक्रिया ही है। सवर्ण लेखकों ने अपने रचे साहित्य में जिस प्रकार की सहानुभूति दया एवं हृदय परिवर्तन जैसी चीजों को स्थान दिया वैसे सामाजिक सुधार जैसी विसंगतियाँ दलित साहित्य में नहीं। बुद्ध के मूल विचार को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में डॉ0 अम्बेडकर ने तीन शब्दों में अभिव्यक्ति किया। शिक्षित बनो, संगठित रहो, और संघर्ष करो–इसी मूल विचार को केन्द्र में रखकर आज का दलित साहित्य रचा जा रहा है।

दलित साहित्य और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

भाषा, कला, साहित्यं, जन रहन–सहन, वेश–भूषा और सांस्कृतिक व सामाजिक उत्सव किसी समाज और राष्ट्र की संस्कृति मे महत्वपूर्ण कारक एवं वाहक हैं, अर्थात संस्कृति सम्पूर्ण सामाजिक आधार–विचार, जीवन शैली, धार्मिक आस्था एवं विश्वास, सामाजिक व्यवस्था तथा शासन

व उससे संबद्ध राजनैतिक परिस्थितियों एवं मानवीय चेतना के संस्कारित पक्षों व घटकों का अभिज्ञान कराती है।[6]

भारत संवैधानिक रूप में, एक धर्म निरपेक्ष, बहुसंस्कृति और बहुभाषा सम्पन्न राष्ट्र है किन्तु व्यावहारिक रूप से स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा के प्रादुर्भाव के परिणाम स्वरूप स्थिति में भिन्नता आ गयी और शैनेः शैनेः बहुसंस्कृति पर बहुसंख्यक संस्कृति होने लगी । सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही अवधारणा ने 60 के दशक में बाकायदा सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया और 70 के दशक में यह धीरे–धीरे बलवती होती चली गयी । इसके उपरान्त इसने धर्म निरपेक्ष एवं बहु संस्कृतिवाद के कायदों को बाकायदा तोड़ना प्रारम्भ कर दिया । आज यह अपने पूर्ण विकसित रूप में राष्ट्र के सम्मुख धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सहिष्णुता के मार्ग में भयंकर बाधा बनकर आ धमकी है जिसके परिणाम स्वरूप सामाजिक सद्भाव, भ्रातृत्व, समता व विकास को निर्लज्जतापूर्वक धता बताती विभिन्न समस्याओं ने सुरसा का रूप धारण करके समाज की धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्वतंत्रता का अपहरण कर लिया और उसे बंधक बना लिया है तथा ये राष्ट्रीय विकास को प्रतिकूल रूप में प्रभावित कर रही है।[7]

वस्तुतः सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त समस्त नागरिकों को एक संस्कृति के ध्वज तले लाने की अवधारणा पर आधारित है, अर्थात एक राष्ट्र के नागरिक एक संस्कृति से प्रतिबद्ध हो लेकिन भारतीय परिस्थितियों में ऐसा सम्भव नहीं है और इसीलिए इसी बिन्दु पर आकर यह प्रश्न सुलगने कि बजाय उलझ जाता है कि वह एक संस्कृति सर्वस्वीकार्य हो या आरोपित और वह संस्कृति कौन सी हो? प्रकट में यह सिद्धान्तः कलुष रहित दिखायी देता है किन्तु इसके कदम उदेश्य राष्ट्र और समाज के लिए अत्यधिक खतरे और जोखिम भरे हैं। भारत में यह अवधारणा इस तथ्य पर आधारित है कि चूंकि ईसाई और मुस्लिम धर्म विदेशी है इसलिए उनके अनुयायी इस देश में रहें तो बेशक मगर अनिवार्य रूप से आर्य (हिन्दू) संस्कृति को आत्मसात करें अर्थात वे अपने–अपने धर्मों और संस्कृति का पालन स्वतंत्र रूप से नहीं अपितु रामनाम ओढ़ कर करें । दूसरे शब्दों में वे लोग अपने–अपने धर्मों एवं संस्कृतियों का पालन आर्य संस्कृति के रंग में रंग कर करें । निसंदेह उनके पूजा स्थल मस्जिद अथवा चर्च अलग हो अथवा रहे भी किन्तु उन पर हिन्दूत्व की अमिट और पूर्ण छाप हो । यहाँ इस तथ्य पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किये जाने की बड़ी भारी आवश्यकता है कि बाबजूद इसके कि बौद्ध धर्म भारतीय मूल का है किन्तु उसके अनुयायियों के साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जाता है और बहुधा यह निराधार तर्क दिया जाता है कि बौद्ध धर्म पराजितों का धर्म है और परजितों का कोई धर्म, संस्कृति या अधिकार नहीं रह जाते।

देश को अभी और त्रासदी झेलने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसका अर्थ कहीं यह तो नहीं कि सत्ता–आशीर्वाद प्राप्त वर्ग कोपभाज्य वर्ग परस्पर संघर्ष और तदन्नतर जय–पराजय के लिए तत्पर रहें । वास्तव में ऐसी कोई भी घटना किसी भी धर्म निरपेक्ष, सम्प्रभु राष्ट्र में और किसी भी काल में राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकटीकरण कदापि नहीं हो सकती । हाँ, यह राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकटीकरण अवश्य हो सकता है और यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं कि सचमुच है भी ऐसा ही।[8]

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का दिवास्वप्न देखने वालों को स्व धर्म एवं स्वसंस्कृति ही दिखाई दे रही है लेकिन सावधानीपूर्वक सोचने का विषय है कि इस बहस का केन्द्र बिन्दु इंसान और इंसानियत क्यों नहीं है । राष्ट्र और समाज इस परिधि से बाहर क्यों रखे हैं ? आखिर क्या कारण है कि भारतीय या इंडियन कहने पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के सिपहसालारों और झंडाबरदारों दोनों के चेहरे पर आड़ी–तिरछी रेखाएं खींच जाती है। आखिर क्यों उनके मुंह का स्वाद यकायक कसैला हो जाता है ? ऐसे भद्रजन अपने आप को हिन्दू कहलाना ही पसन्द करते हैं। यूँ कहने और लिखने भर के लिए (मानने के लिए नहीं) हवा और सभा रुख भांपकर कह भी देते हैं कि हम पहले भारतीय हैं बाद में कुछ और। इस संबंध में बोधसत्व डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का अभिमत सम्यक और संगत ही है, हम पहले भी भारतीय हों और बाद में भी।" किन्तु विद्यमान में घटित घटनाओं के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सका है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के लिए कार्यरत महानुभावों ने इस सत्य को कभी खुले दिमाग से स्वीकार नहीं किया।[9] हालांकि यह एक कटु सत्य है लेकिन इसके पीछे छुपी मानसिकता को समझने के लिए उपरोक्त अन्य तथ्यों के साथ–साथ यह भी ध्यान रखना होगा कि 1933 में गांधी जी के अस्पृश्यता–उन्मूलन संबंधी दौरे का विरोध करने के लिए जब नागपुर में भाई परमानन्द को राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने गार्ड ऑफ आनर दिया तो भाई परमानन्द ने संघ की तुलना मुसोलिनी के रेड बिग्रेड से की थी । साथ ही यह भी कि इस समय संघ परिवार के विचारक गोविन्दाचार्य द्वारा दो वर्ष का अध्ययन अवकाश लेकर अपनी बुद्धि व्यायामशाला में पल्लवित और विकसित और अपनी ही वैचारिक प्रयोगशाला में परीक्षित नव सिद्धान्त "एकात्मक मानववाद" वास्तव में है क्या? इस पर भी अत्यन्त गहराई व सावधानीपूर्वक चिन्तन की आवश्यकता है।[10]

ISSN : 0975-5403

दलित–साहित्य पर उठाए गए इन सवालों कों, मैं, केवल भारत की दलित जनता और भारत के सामंतवाद या ब्राह्मणवाद के बीच मौजूद अन्तर्विरोध की सीमाओं तक ही सीमित नहीं मानता। इसके विपरीत मेरा मानना है कि दलित–साहित्य पर उठाए जा रहे सवाल, अब दलित जाति की सीमाओं को तोड़कर, सम्पूर्ण शोषित–पीड़ित जनता के अस्तित्व, अस्मिता एवं साहित्यिक वैचारिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और मौलिक नागरिक अधिकारों पर उठने वाले सवाल बन गए हैं। इसी तरह, सवाल उभने वाले लोग भी केवल भारत के सामंतवादी या ब्राह्मणवी ही नहीं हैं, बल्कि खुद उन सामंतवी या ब्राह्मणवादी कठपुलियों की नियंत्रक डोरी, अब पूरी तरह, साम्राज्यवादियों के हाथे में चली गई है। इन साम्राज्यवादियों के हाथों में, जो अब यहाँ तक नियंत्रित करने लगे हैं कि कौन कितने कहे, कौन कितना सुने, कौन कितना लिखे, कौन कितना छपे, कौन कितना पढ़े, और कौन कितना समझे ।.

इस प्रकार निष्पक्ष, निस्वार्थ और प्रज्ञामय वैचारिक मंथन से उपजा साहित्य ही समाज को कोई सटीक दिशा दे सकता है और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के खतरों और जोखिमों से बचाकर सामाजिक समानता धार्मिक व सांस्कृतिक सहिष्णुता व सद्भावना हेतु सुदढ़ मार्ग प्रशस्त व आलोकित कर सकता है। समाज व राष्ट्र की विद्यमान जीवंत आवश्यकताओं को समझना साहित्यकारों का गुरू दायित्व है और यह उनके सामने बड़ी भारी चुनौती है जो साहित्यकार ऐसा नहीं कर सकते थे तो साहित्यकार की परिधि से ही बाहर है किन्तु जो साहित्यकार ऐसा नहीं करते/नहीं कर रहे हैं उन्हें न इतिहास क्षमा करेगा और न भावी पीढ़ियां। साथ ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के झंडाबरदारों व सिपहसलारों के समान ही उत्तरदायी होंगे क्योंकि विषाक्त व्यवस्था के पोषण में किया गया उनका स्वार्थपूर्ण पथ विचलित लेखन का खामियाजा भावी पीढ़ियों को भुगतना होगा ।[11]

सन्दर्भ

1. शर्मा, डॉ० शिव कुमार – हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, दिल्ली – 1988, पृ0 463
2. नाहर, स्वरूप कृष्ण – जातिवाद के प्रतीक लेजर टाइपिंग सेटिंग, पटियाला 2003, पृ09
3. भगवान दास – मैं भंगी हूँ, गौतम बुक सेन्टर दिल्ली 2007. पृ0 5
4. पुनियानी, राम दृ साम्प्रदायिकता : आतंकवाद, अनहद, नई दिल्ली 2007, पृ0 37
5. देवी दयाल – डॉ बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर की दिनचार्या,दलित टुडे प्रकाशन, लखनऊ, 1989, पृ0 39
6. पवार, दया एवं खड़से, दामोदर – अछूत, राधाकृष्ण पेपर बैक्स, दिल्ली 1998, पृ0 87
7. लोहिया, राम मनोहर – जाति प्रथा, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास हैदराबाद, 1986, पृ0 17
8. सन्तोषी, हरिकिशन – दलितों में दलित, सस्त्रा साहित्य मण्डल प्रकाशन, 2009, पृ07
9. पुजारी, विजय कुमार – डॉ0 बाबा साहेब अम्बेडकर, समता प्रकाशन, नागपुर, 1999, पृ0 19
10. रणदिवे, बी0 टी0– जाति और वर्ग, सी0पी0आई0 एमा प्रकाशन, 1981, पृ0 61
11. मेहता, चेतपा – युग दृष्टा, डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, मलिक एण्ड कम्पनी प्रकाशन, जयपुर, 1991, पृ0 41

■ ■ ■

डॉ0 परमानन्द जड़िया की कहानियों में आदर्शनिरूपण

डॉ0 सुमन वर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी
विभाग, मुंशी रघुनन्दन प्रसाद सरदार पटेल महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बाराबंकी

संसार में कुछ ऐसे व्यक्ति है जो कर्म में विश्वास करते हैं। 'चरैवेति! चरैवेति' ही जिनके जीवन का मूल मंत्र है, वे मूक साधनारत रहकर निरन्तर अमृततत्व की खोज में लगे रहते हैं। ऐसे ही प्रचार–प्रसाद से दूर रहने वाले प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार हैं डॉ0 परमानन्द जड़िया, जो लेखन कार्य में व्यसन वश लीन रहते हैं। वे एक रससिद्ध कवि, कुशल कहानीकार, निबन्धकार, उपन्यासकार तथा सुधी समीक्षक होने के साथ–साथ ओजस्वी वक्ता तथा हिन्दी, अंग्रेजी एवं उर्दू भाषा के आधिकारिक विद्वान हैं।

जड़िया जी ने विपुल मात्रा में कहानियों की रचना की है। उनके सात कहानी संग्रहों में कुल मिलाकर 137 कहानियां संकलित हैं, जो आस्था के चरण, साकांक्षा, साधना के सोपान, गल्प गंगा, नमोनारायण, अहिंसा परमोधर्मः एवं काजल की कोठरी के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। इन कहानियों के माध्यम से उन्होने अपने समकालीन व्यक्ति, परिवार, वर्ग, समाज एवं राष्ट्र के यथार्थ जीवन की झांकियाँ अंकित हैं। जिसमें कहीं वे भारतीय संस्कृति एवं आस्था की ओर उन्मुख हैं, तो कहीं सामाजिक विश्लेषण में प्रवृत्त। कहीं पर हास्य–व्यंग्य का पुट देकर साहित्य प्रेमियों का मनोरंजन कर रहे हैं तो कुछ में सम–सामयिक समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का यथार्थ रूप से चित्रण। उनकी कहानियों का चित्र फलक अत्यन्त विस्तृत है।

डॉ0 परमानन्द जड़िया जी की जुम्मन मियाँ, हकीम जी, सुदर्शना काकी, मास्टर साहब, स्वाभिमान, परवरिश, भवसुर हो तो ऐसा और ममता इत्यादि कहानियाँ जो चरित्र प्रधान होते हुए आदर्शवादी है। जिनका संक्षिप्त सार निम्नांकित है–

जड़िया जी की 'जुम्मन मियाँ'एक चरित्र प्रधान कहानी है जिसमें आदर्श का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। लखनऊ के एक तांगे वाले की अत्यन्त रोचक कहानी है। इसमें लखनऊ की तहजीब, खुशबयानी और इंसानियत के दर्शन होते हैं। जुम्मन मियाँ एक खानदानी तांगे वाले हैं। उनके पिता भी तांगा चलाते थे, परन्तु समय के परिवर्तन ने तांगे वालों की हालत खराब कर दी है। अब रिक्शा और टैम्पों के जमाने में तांगे पर कोई बैठता ही नहीं है फिर भी जुम्मन मियाँ बाप–दादों के जमाने से चले आये पेशे को नहीं छोड़ते। उन्हें अपने इसी धन्धे से संतोष है वे कहते हैं– ''रिक्शा चलाना तो मेरे बस का नहीं। मैंने जिन्दगी में बड़े–बड़ों का साथ किया है। बाबू नानक चंद बैरिस्टर को बरसों हाईकोर्ट लेकर गया हूँ। बस सुबह बंगले पर पहुंचकर साहब को हाईकोर्ट पहुंचा देना और शाम को वापस ले आना, यही अपना काम था। मालिक की मेहरबानी से इतना कमा लेता था कि दिन भर मौज मस्ती में बीत जाता था।'' किस्सा गोई, मेहमान नवाजी, ईमानदारी और आत्म सन्तोष की भावना उसमें कूट–कूट कर भरी थी। वे सवारियों के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। अपने घोड़े को दोस्त के समान व्यवहार करते है। उनके बच्चे मैले, फटे कपड़ों में एक छोटी सी कोठरी में रहते हैं। गरीबी की हालात में भी जुम्मन मियाँ की नेकदिली और इंसानियत में कोई अन्तर नहीं आता है। कई बार उनके तांगे में लोगो का सामान छूट जाता है तो वह उस सवारी के घर का पता ढूंढकर उसका सामान वापस कर देते हैं। कुल मिलाकर यथार्थ और आदर्श का बड़ा सुन्दर उदाहरण इस कहानी में है।[1]

'हकीम जी'यह भारतीय वैद्यों की चिकित्सा पद्धति पर आधारित आदर्शवादी कहानी है। इसमें गांव के हकीम सुन्दर लाल अपने हाथ से दवाएं तैयार करते हैं। जड़ी–बूटियों की उन्हें पहचान है। गांव में रहने वाले हकीम जी ज्यादा पढ़े लिखे न थे, परन्तु उनका सामान्य ज्ञान बहुत ऊँचा था। उनके घर पर बाप –दादों के समय के अनेक आयुर्वेद ग्रन्थ उपलब्ध थे। अवकाश के क्षणों में वे चरक, शारंगधर संहिता, रसराज महोदधि निघण्ट और वैद्यक के अन्यान्य ग्रन्थ पढ़ा करते थे। लेकिन उन्होंने कभी किसी विद्यालय में पढ़कर कोई प्रमाण पत्र प्राप्त नहीं किया था।

हकीम सुन्दर लाल के हाथ में गुण और भाग्य में

यश है। वे जिसका इलाज करते हैं। वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है। परन्तु वे लोभी वैद्य नहीं हैं। उन्हें पिता उनके बचपन में कहा करते थे कि वैद्य वह होता है कि रात–बिरात जब भी कोई बुलाने आये तो जाना चाहिए न जाने से पाप लगता है।

हकीम सुन्दर लाल गरीब व्यक्ति थे, परन्तु उन्हें अपनी आर्थिक स्थिति पर संतोष था। गांव में वे किसी से पैसे नहीं लेते थे। कहते थे– बाबू जी जिन्दगी भर ऐसे ही हकीमी करता रहा हूँ। कभी भी पैसे के पीछे नहीं भागा तो अब आखिरी वक्त में पैसा जोड़कर क्या करूँगा। बाबू जी, एक वक्त था जब जमींदारी थी। राजा ठाकुरों का इलाज भी किया है मैंने। आये दिन ही दरवाजे पर हाथी खड़ा रहता था। उन्ही लोगों को दी हुई जमीन पर खेतीबारी कर रहा हूँ। तब से गरीब लोगों से पैसा माँगने की कभी इच्छा ही नही हुई।

ऐसे हकीम सुन्दर लाल पत्नी के मना करने पर भी बुखार की हालत में मरीज देखने गांव से बाहर चले गये । उन्होंने कहा ''मरीज बुलाये तो वैद्य को फौरन जाकर देखना चाहिए। मामूली बरसात का क्या है ? नदी भी पार करना पड़े तो वैद्य को पीछे नहीं रहना चाहिए।'' रास्ते में वे भीग गये। मरीज के घर पहुँचते–पहुँचते उनका बुखार बढ़ गया। फिर भी उन्होंने मरीज के प्राण बचा लिए। तीसरे दिन घर लौटै तो हालत ज्यादा खराब हो गयी। पत्नी को बुलाकर कहा मैंने अपना काम पूरा कर दिया है। पण्डित जी को बुलाकर गोदान करवा दो। कुण्डली के हिसाब से मेरा समय अब पूरा हो गया है। इस तरह बोलते–बोलते हकीम सुन्दर लाल अन्तिम यात्रा पर चल गये। ऐसे वैद्य/चिकित्सक आज के युग में मिलने दुर्लभ हैं। यह कहानी मार्मिक, रोचक होते हुए प्रेरणाप्रद है।[2]

'सुदर्शना' कहानी यथार्थ के धरातल पर आधारित आदर्शोन्मुखी कहानी है। इस कहानी की प्रमुख पात्र सुदर्शना नामक पांच साल की छोटी बच्ची है। अब वह अपनी विमाता अवन्तिका के पास रहती है। अवन्तिका पहले सुदर्शना को प्यार करती थी, परन्तु जब से उसके पुत्र हो गया, उसका ममत्व सुदर्शना के प्रति कम हो गया। एक दिन जब विवेक अपनी पत्नी तथा दोनों बच्चों को लेकर 'पिक्चर' देखने जा रहा था तो रास्ते में रंग बिरंगी राखियाँ देखकर सुदर्शना लालयित हो जाती है। वह अपने पिता तथा विमाता से राखियाँ खरीदने के लिए आग्रह करती है परन्तु उनका रिक्शा एक कार से टकरा जाता है। सुदर्शना के सिर में गहरी चोट लग जाती है। अस्पताल के डाक्टर बताते हैं कि उसे रक्त की आवश्यकता है। विमाता अवन्तिका अपना रक्त देकर सुदर्शना के प्राणों की रक्षा करती है। अवन्तिका का वात्सल्य वापस लौट आता है। वह उसे प्यार करती है तो विवेक कह उठता है कि मेरी पत्नी कुंती मुझे वापस मिल गयी है। सुदर्शना एक सप्ताह बाद घर वापस आकर अपने भाई को राखी बाँधती है। इस कहानी में सुदर्शना का सहज भोलापन विमाता का प्यार पाने में सफल होता है। सुदर्शना का पिता विवेक एक आदर्श पति और पिता के रूप में चित्रित किया गया है।[3]

'काकी' एक संवेदनशील कहानी है। नारी की गौरव गरिमा इसमें मूर्तिमान हो उठी है। काकी भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। काकी नारीत्व की साकार प्रतिमा है। करूणा, ममता, त्याग, सेवा, परोपकार, समर्पण और आचरण की सुचिता ने काकी को मानवी से देवी बना दिया है। कहानीकार के शब्दों में काकी सबेरे सबसे पहले उठती और रात को सबसे बाद में सोती। न जाने कितनी क्षमता भगवान ने उन्हें दी थी। गाय की सानी–पानी करना, उसे दुहना और गोबर के उपले बनाना उनका नित्य का काम था। वे स्वयं ही अपने सामने सबको खाना खिलाती। हम लोग आपस में लड़ते–झगड़ते तो वे प्यार से समझाती, खाना खाते समय चबड़–चबड़ नहीं करते। जीभ कट जाती है। चुपचाप ठीक से बैठकर खाया करो।

काकी बहुओं को डांटती फटकारती तो बहुएं नाराज हो जाती। कहती यह बुढ़िया नाक में दम किए रहती है। काकी जितना अपनी बहुओं को डाटती उतना ही उनसे प्रेम भी करती थी। अगर किसी बहू को बुखार आ जाता तो काकी उसका पूरा ध्यान रखती। उसका सिर दबाती नीम के सींके का काढ़ा खुद ही बना कर बहू को पिलाती । अपने हाथ से ही दूध पिलाती। नजर झाड़ती और मन्दिर में पैसा चढ़ा आती।

काकी 28–30 वर्ष की अवस्था में विधवा हो गयी थी। उनके कोई सन्तान न थी। उनके पति सेना में जमादार थे और जमीन–जायदाद छोड़ गये थे, परन्तु काकी ने कभी उसे अपना नहीं समझा और न ही अपने मायके गयी। काकी सावन में अपने परिवार की सभी लड़कियों को बुला लेती। उनके साथ झूला झूलती, गाना गाती। काकी के कण्ठ में माधुर्य था। वे बहुओं को भी सावन में उनके मायके भेज

देती। बच्चों को तैयार करके स्कूल भेजना और लौटते समय उनकी प्रतीक्षा करना काकी की दिनचर्या में शामिल था।

काकी जब तक जवान रही, गांव में किसी ने उन्हें दरवाजे पर नहीं देखा। बड़े आचार—विचार से रही। अवस्था बढ़ने के साथ—साथ काकी सबकी काकी बन गयीं। उनके जेठ का बेटा सुरेश का लड़का काकी के साथ बहुत हिला हुआ था, परन्तु जब सुरेश का ट्रांसफर हो गया और वह मुन्ना को लेकर मेरठ चला गया तो काकी बहुत रोयी थी और उसी की याद में वे दिनोंदिन टूटती गयी। कभी पेट भर खाना नहीं खाया। अन्ततः काकी बिस्तर से लग गयी। सूचना पाकर सुरेश और उसकी बहू मुन्ना को लेकर आये। काकी ने मुन्ना को सीने से लगा लिया और उसकी मुट्ठी में सोने का 'लॉकेट' पकड़ा दिया और फिर ताऊ जी को बुलाकर कहा, मुरारी चूल्हे के नीचे मेरा जेवर गड़ा है। उसे खोद कर सभी बहुओं और लड़कियों को बराबर बांट देना। काकी इसके बाद चिर—निद्रा में सो गयी। देखते ही देखते आसपास के गांवों के सैकड़ों स्त्री—पुरूष काकी के मृत्यु का समाचार पाकर दौड़ पड़े। जीवन भर सबको भले—बुरे के लिए डाँटने वाली काकी इस नश्वर शरीर को छोडकर जा चुकी थी। जीवन के अन्त समय में उन्होंने बिना भेद—भाव किए अपने निर्णय में आदर्श स्थापित किया। यह कहानी स्वतन्त्र भारत और अलवार राजस्थान से प्रकाशित होने वाली 'जगमग दीप ज्योति' में प्रकाशित हो चुकी है।[4]

'मास्टर साहब'कहानी में एक रिटायर्ड हेड मास्टर अनन्तराम की कथा वर्णित है। जो 17—18 वर्ष पूर्व सेवानिवृत्त हो चुके हैं। उनके बच्चे अब बड़े हो गये हैं। कोई पचास साल का है तो कोई चालीस का। सब सम्पन्न हैं। बाप—दादों की प्रापर्टी से अच्छी खासी आमदनी हो जाती है, परन्तु ट्यूशन करना उनका शौक है। वे सिर्फ हाईस्कूल तक पढ़े हैं, परन्तु ट्यूशन वे बी0ए0, एम0ए0 के विद्यार्थियों को भी पढ़ाते हैं। उन्होने अनेक विद्यार्थियों को आई0ए0एस0 तथा पी0सी0एस0 के 'कम्पटीशन' की तैयारी थी करायी है। उनके पढाये विद्यार्थी ऊँचे—ऊँचे पदों पर हैं । वे कहते हैं 'देखिये बाबू जी, मैं बजात खुद हाईस्कूल तक पढ़ा हूँ। लखनऊ के चर्च मिशन स्कूल का स्टूडेण्ट रहा हूँ।'.............. हमारे जमाने में मास्टरों की कोई ट्रेनिंग नहीं होती थी। मैं एल0टी0 और बी0एड0 तो हूँ नहीं परन्तु अच्छे—अच्छों को मैंने नेसफील्ड की ग्रामर पढ़ाई है। मेरा पढ़ाया लड़का अंग्रेजी और मैथमैटिक्स में गच्चा नही खा सकता। मास्टर अनन्त राम विद्यार्थी आन्दोलन की गतिविधियों से क्षुब्ध हैं और कहते हैं कि इन राजनीतिक नेताओं ने विद्यालयों का वातावरण खराब कर दिया है। मास्टर अनन्त राम अपने आवास पर विद्यार्थियों को बिना फीस लिए भी पढ़ाते हैं और उनके लिए वाचनालय और पुस्तकालय भी स्थापित कर रखा है।

उनके एक विद्यार्थी को पुलिस एक दिन उसके घर से पकड़ ले जाती है और उस पर अश्लील हरकत करने का झूठा आरोप लगाकर हवालात में बन्द कर देती है। मास्टर अनन्तराम तुरन्त दौड़कर पुलिस स्टेशन जाते हैं। वहाँ उनका वह निर्दोष विद्यार्थी बैठा रो रहा था। उसने मास्टर साहब को देखकर कहा — पुलिस वाले मुझे मार डालेंगे। मैं उस लड़की को जानता तक नहीं। जिस लड़की के आरोप में मुझे पुलिस वाले पकड़कर लाये हैं। अब मैं क्या मुँह लेकर स्कूल जाऊँगा।

मास्टर अनन्तराम ने पुलिस से जिरह—बहस करके उस लड़के को निर्दोष सिद्ध कर दिया और स्टेशन इंचार्ज को कसकर फटकारा, परन्तु वे अपने विद्यार्थी पर लगाये गये अनर्गल आरोप के दुःख को सहन न कर सके जिसके कारण उनकी मृत्यु हो गयी। यह एक आदर्श शिक्षक की मार्मिक कहानी है। कहानी अनायास ऐसा मोड़ लेती है कि पाठक चकित रह जाता है। यह कहानी अगस्त 1986 में 'स्वतन्त्र भारत' में प्रकाशित हो चुकी है।[5]

'स्वाभिमान'यह एक रिटायर्ड प्रोफेसर के पुत्र की कहानी है। उसकी नौकरी नहीं लग पायी है। वह मेधावी छात्र है। वह सोचता है, मेरे पिता जी किसी से मेरी नौकरी की सिफारिश नहीं करते। वह अपनी माँ से अपनी मन की बात कहता है। माँ भी पिता जी से कहती हैं, परन्तु पिता डा0 चन्द्रमणि बड़े स्वाभिमानी प्रोफेसर थे। वे किसी के सामने याचना करना पसन्द नहीं करते थे। डॉ0 चन्द्रमणि ने अपने बेटे से कहा — 'जब तुम्हारा एकेडेमिक कैरियर बढ़िया है तब तुम्हारा सेलेक्शन तो हो ही जायेगा। तुम डॉ0 मिथुन चक्रवर्ती जी से क्यों नहीं मिलते।'

प्रोफेसर जी का लड़का किसी से मिलता नहीं, परन्तु उसकी नौकरी लग जाती है। डॉ0 मिथुन चक्रवर्ती को जब पता चलता है कि यह मेरे प्रोफेसर का बेटा है तो वे स्वयं दौड़कर डॉ0 चन्द्रमणि के घर आते हैं। उनके पैर छूते हैं और कहते हैं कि राकेश ने मुझसे नहीं बताया। शायद वह

मुझे न जानता हो। उसका सेलेक्शन 'मेरिट' पर हुआ है।

शाम को राकेश जब घर आता है तो डॉ0 चन्द्रमणि उससे पूछते हैं 'तुम डॉ0 मिथुन चक्रवर्ती जी से मिले थे। राकेश कहता है नहीं। डॉ0 चन्द्रमणि पुनः पूछते हैं क्यों नही मिले ? तो वह कहता है पता नहीं क्यों, मेरी अन्तरात्मा ने कहा 'यह फेयर गेम नही है।' तब डॉ0 चन्द्रमणि प्रसन्न होकर कहते हैं तुमने मेरे स्वाभिमान की रक्षा की। यह कहानी 'स्वतंत्र भातर' में 25 जनवरी 1993 में प्रकाशित हुई थी।[6]

'परवरिश' कहानी एक कुम्भकार के अनाथ बालक से सम्बन्धित है जिसे पाँच वर्ष की अवस्था में ठाकुर दिग्विजय सिंह उसके गांव से उस समय ले आये थे जब उसकी विधवा माँ उसे छोड़कर परलोक चल बसी थी। घर वाले बबुआ को देखकर प्रसन्न नहीं हुए, परन्तु ठाकुर साहब ने कहा था– ''लोग कुत्ते बिल्ली के बच्चे को पाल लेते है। यह तो आदमी का बच्चा है। बेचारा बेसहारा हो गया है। कहाँ जायेगा ? जहाँ सब लोग खाते हैं, यह भी खायेगा। वैसे इसकी माँ अपना मकान, खेत और बाग आदि छोड़कर मरी है। पैसे की इसे कोई कमी नहीं है। तब क्या हम लोग इसे अपना प्यार भी नहीं दे सकते।'' घर वाले भुन–भुनाकर रह गये थे। बबुआ सबकी सेवा करता, घर वालों को अपना समझता परन्तु घर में उसकी हैसियत एक नौकर से अधिक नहीं थी। परन्तु ठाकुर दिग्विजय सिंह की बडी बहू की बहन कुन्ती जब कभी गर्मियों की छुट्टी में अपनी बहन के घर आती तो वह बबुआ को प्रेम से खाना खिलाती और उससे कहती – ''कभी तुम मेरे यहां आओ। रामनवमी के मेले में खूब मजा आता है। शाम को कनक भवन में रोशनी और सजावट होती है। धीरे–धीरे दोनों में प्रेम बढ़ने लगता है। कुन्ती घर से भागकर बबुआ के पास आ जाती है। दोनों का विवाह हो जाता है। ठाकुर दिग्विजय सिंह बबुआ को ढूँढने जाते हैं लेकिन उसे न पाकर वह पुनः घर लौट आते हैं। वे बबुआ की याद में बीमार पड़ जाते हैं। घर के सब लोग उन्हें ताना देते हैं। एक दिन बबुआ का पत्र उन्हें मिलता है। उसमें घटना का पूर्ण विवरण पढ़कर वे अपने बडे भाई अर्जुन सिंह से पूछते हैं – दादा क्या किया जाये अर्जुन सिंह कहते हैं जो हो गया ठीक है । घर वाले पहले भुनभुनाते हैं, बिगड़ते हैं, परन्तु अर्जुन सिंह के सामने सबकी बोलती बन्द हो जाती है। ठाकुर कुन्ती बबुआ के साथ गांव आ जाती है। ठाकुर दिग्विजय सिंह बहू भोज का आयोजन करते हैं। जिसमें गांव के सभी लोग शामिल होते हैं। एक ठाकुर के हृदय की संवेदन शीलता इस कहानी में उसे देवत्व प्रदान कर देती है। यह कहानी सूचना निदेशालय से प्रकाशित होने वाले 'उत्तर प्रदेश सन्देश' में प्रकाशित हो चुकी है।[7]

'भवसुर हो तो ऐसा' यह कहानी बिना दहेज के हुए विवाह से सम्बन्धित है। इस कहानी में धर्मेन्द्र नाथ के पुत्र का विवाह एक गरीब घर की लड़की से होता है। जो देखने में सुन्दर सुशील एवं गुणवान है। सास–श्वसुर बहु को ही दहेज समझते है और इस विवाह से प्रसन्न है लेकिन ज्ञानेन्द्र की बुआ दहेज न मिलने पर बड़बडाती है। उनकी बात में ज्ञानेन्द्र के माता–पिता हाँ में हाँ नहीं मिलाते इससे वह नाराज होकर अपने घर इलाहाबाद चली जाती है।

ज्ञानेन्द्र की पोस्टिंग भी इलाहाबाद में ही थी। वे उसे रोज भड़काया करती थी–उंगली टेढ़ी किए बिना घी नहीं निकलता। जब तक सख्त होकर स्कूटर की मांग नहीं करोगे तब तक तुम ऐसे ही बुद्धू बने रहोगे। ज्ञानेन्द्र कुछ सोच न पाता क्या करें। बाबू धर्मेन्द्र नाथ को जैसे ही पता चलता है कि मेरी बहन मेरे बेटे को भड़काती है। वह तुरन्त ही इलाहाबाद जाते हैं और अपने जान–पहचान वालों से मिलकर ज्ञानेन्द्र का ट्रांसफर लखनऊ करवा लेते हैं। बहू सुरेखा को जब यह पता चलता है तो वह अपने भवसुर का और अधिक सम्मान करने लगती है। यह यथार्थ के धरातल पर बुनी हुई आदर्शवादी कहानी है।[8]

'ममता' यह एक ठाकुर परिवार की कहानी है जो बड़ी ममतापूर्ण है। ठाकुर मनमोहन सिंह पुराने जमींदार खानदान के आदमी है। उनका विश्वासपात्र नौकर भगवानदीन कुछ दिन बीमार रहकर मर गया था। ठाकुर ने उसका इलाज कराया, परन्तु वह बच न सका। कुछ समय पश्चात् उसकी पत्नी भी अपने तीन साल के पुत्र मंगरूवा को छोड़कर इस संसार से चल बसी थी। ठाकुर मनमोहन सिंह दयावान पुरुष थे। ठाकुराइन से कहा– 'इस बेचारे ने पूर्व जन्म में कोई पाप किया था, बोलो इसकी कुछ मदद करोगी ? ईश्वर ने तुमको एक अवसर दिया है। ठकुराइन, बापू कहा करते थे, ठाकुर के दिल में बाप का प्यार होना चाहिए।' और फिर उन्होंने मैले कुचैले मंगरूवा को गोद में उठा लिया था। इसी मंगरूवा को ठाकुराइन ने पाल पोसकर बड़ा किया। पढाया –लिखाया और उसका विवाह किया। अब वह पक्का ठाकुर बन गया। इससे पूर्व राम सेवक गाँव के स्कूल का ब्राहमण अध्यापक है, जो इस बात को पसन्द नहीं करता

 ISSN : 0975-5403

और कहता है कि मँगरूवा भगवान दीन कोरी का लड़का है। मैं उसे नहीं पढ़ाऊँगा। ठाकुर को जब यह बात पता चलती है। तो वे दूसरा स्कूल खुलवा देते हैं और राम सेवक भूखों मरने लगता है। कुछ दिन बाद रामसेवक मंगरूवा से कहकर माफी माँग लेते हैं। ठाकुर मनमोहन सिंह मंगरूवा को मंगरू सिंह कहने लगते हैं। पूरी कहानी ठाकुर और ठाकुराइन के वात्सल्य और बड़प्पन की कहानी है। जो जाति–पाति से ऊपर उठकर सुन्दर आशीर्वाद की स्थापना करती है। यह कहानी 'स्वतन्त्र भारत' में 17 जनवरी 1994 को प्रकाशित हुई थी।[9]

'कहानी' कहानी के सम्बन्ध में डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं कि – कहानी की श्रेष्ठता न भाषा में है न प्रस्तुति में है। ऊँचे–ऊँचे आदर्शों का प्रतिपादन भी कहानी की मर्यादा और उसकी अन्तर्दिशा के अन्तर्गत नहीं आता। मेरी दृष्टि में उत्तम कहानी वही है जिसे एक बार पढ़कर पाठक न भूले और जो उसके चिन्तन का सहज ही एक अंग बन जाय।'' द्विवेदी जी के इस कथन को डॉ0 परमानन्द जड़िया जी की कहानियाँ सार्थक करती हैं। जड़िया जी स्वयं कहते हैं कि – ''मौन रहो या फिर ऐसी बात कहो जो मौन से बेहतर हो।'' इसी उक्ति के अनुरूप बल्कि कुछ ऊपर उठकर उनकी प्रत्येक कहानी मौन रहकर भी कुछ अच्छी बात कह जाती हैं।

अन्ततः मैं यही कहना चाहूँगी कि जड़िया जी के कहानियों के पात्र जीवन की व्यापकता में एक ऐसी झाँकी प्रस्तुत कर देने में सक्षम हैं जिसकी झलक सहज ही मस्तिष्क से ओझल नहीं की जा सकती।

सन्दर्भ –

1. डॉ0 परमानन्द जड़िया, साधना के सोपान, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 10
2. डॉ0 परमानन्द जड़िया, साधना के सोपान, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 36
3. डॉ0 परमानन्द जड़िया, आस्था के चरण, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 122
4. डॉ0 परमानन्द जड़िया, साधना के सोपान, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 17
5. डॉ0 परमानन्द जड़िया, साधना के सोपान, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 44
6. डॉ0 परमानन्द जड़िया, साधना के सोपान, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 75
7. डॉ0 परमानन्द जड़िया, गल्प गंगा, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 95
8. डॉ0 परमानन्द जड़िया, काजल की कोठरी, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 40
9. डॉ0 परमानन्द जड़िया, साधना के सोपान, कहानी संग्रह, पृष्ठ संख्या 55

■ ■ ■

मधु कांकरिया का कथा साहित्य में आदिवासी जनजीवन का जीवंत चित्रण

डॉ. विजेंद्र प्रताप सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
राजकीय महाविद्यालय, गौंडा,
इगलास, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश

सारांश

हिंदी कथा साहित्य जगत में मधु कांकरिया सुपरिचित नाम है। मधु जी द्वारा आदिवासी समुदायों से संबंधित जन जीवन का बहुत ही गहनता और गंभीरता के साथ विवेचन करते हुए उनकी समस्याओं को समाज के सम्मुख लाने का कार्य किया है। विगत दो तीन दशक से इस दिशा में आदिवासी साहित्यकारों से इतर साहित्यकारों द्वारा भी इस दिशा में अच्छा योगदान दिया जा रहा है। मुख्यधारा के क्रांतिकारी साहित्यकारों ने भी उनके प्रति मानवीय संवेदनशीलता प्रदर्शित करते हुए उनकी समस्यायओं का चित्रण करते हुए बहुत से महत्वपूर्ण बिदुओं पर लेखनी चलाई है। मधु कांकरिया समकालीन महत्वपूर्ण साहित्यकार हैं जो आदिवासी जनजीवन की गहनता से पड़ताल करते हुए उनकी विभिन्न समस्याओं को चित्रित करती आ रही हैं। प्रस्तुत शोधालेख उनके आदिवासी जन जीवन को आधार बनाकर रचे गए कथा साहित्य पर केंद्रित है।

मुख्य शब्द – निर्धनता, बेरोजगारी, स्त्री शोषण, धार्मिक आडंबर, अनमेल विवाह, वेश्यावृत्ति।

1. प्रस्तावना

परिवर्तनशीलता और नवोन्मेष प्रकृतिजन्य कृतियों का प्रमुख गुण है और साहित्य सृजन प्रकृति की अनन्य कृति मानव द्वारा ही संभव हो पाया है। इसका प्रमुख कारण है मानव का संवेदनशील होना। साहित्यशास्त्र में सवेदना शब्द विशिष्ट अर्थ के द्योतक के रूप में गृहीत है, परंतु साहित्यिक संदर्भ में संवेदना साहित्यकार की यह चेतनानुभूति है जो भावना की प्रेरणा और रचना विधि की शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करती है। संवेदना शब्द के मनोविज्ञान शास्त्र एवं साहित्यशास्त्र–चेतन अर्थ के भेद को स्पष्ट करते हुए डॉ. नगेंद्र लिखते हैं कि "मूलतः संवेदना का अर्थ है ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव अथवा ज्ञान। किंतु आजकल सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग सहानुभूति के अर्थ में होने लगा है। मनोविज्ञान में अब भी इस शब्द का प्रयोग इसके मूल अर्थ में ही किया जाता है और उस अर्थ में यह किसी बाह्य उत्तेजन के प्रति शरीर–तत्र की सर्वप्रथम सचेतन प्रतिक्रिया होती है,.. ....साहित्य में इसका प्रयोग स्नायुविक संवेदनाओं की अपेक्षा, मनोगत संवेदनाओं के लिए अधिक होता है। इस प्रकार साहित्यिक संदर्भ में संवेदनशीलता मन की प्रतिक्रिया की शक्ति ही है, जिसके द्वारा संवेदनशील व्यक्ति दूसरे किसी व्यक्ति के दुःख–सुख को समझा कर जैसे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है।'' (डॉ. नगेंद्र, मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खंड, पृष्ठ सं. 232) समकालीन साहित्य में कुछ नए मुद्दों ने अपनी अभूतपूर्व उपस्थिति दर्ज की है– दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य,स्त्री साहित्य, थर्ड जेंडर साहित्य., और वृद्ध विमर्शीय साहित्य। समाज में विद्यमान हाशियाकृत समुदायों की अस्मिता की अपनी स्थान एवं परिवेश के अनुसार अलग–अलग समस्याएँ हैं जिसका प्रमुख कारण है सुविधाभोगी समुदायों द्वारा इनकी दीर्घकाल से उपेक्षा। साहित्य की विभिन्न विधाओं में जो साहित्य हाशियाकृत समुदायों को लक्ष्यल करके रचना गया वह दलित, आदिवासी, स्त्री, थर्डजेंडर, वृद्ध विमर्शीय साहित्यों के रूप में जाना जाता है। साहित्यिक विमर्शों के नामकरण के पीछे कई मत हैं। जैसे दलित साहित्य कारों द्वारा रचित साहित्यत ही दलित साहित्य है। इसी प्रकार आदिवासियों एवं स्त्रियों द्वारा रचित साहित्या के बारे में विद्वानों के मत हैं। इसी दृष्टि से थर्ड जेंडर, वृद्ध एवं अन्य विमर्शीय साहित्यम के बारे में भी नाना प्रकार के मत हैं। जो साहित्य इन वर्गों से संबंधित न होते हुए साहित्यकारों द्वारा लिखा गया है उसे संवेदना का साहित्य तो माना ही जाना चाहिए। क्योंकि बहुत से ऐसे समुदाय हैं जिनमें शिक्षा का प्रचार प्रसार न के बराबर है। अशिक्षित समुदायों के संबंध में रचना गया साहित्य भी तो साहित्य है ही इस लिए उसे भी संबंधित विमर्श का साहित्य माना जाना चाहिए। हो सकता है कि उसकी समीक्षा पक्ष या विपक्षीय दृष्टि से की जा सकती है।

2. आदिवासी साहित्य

प्रत्येक विधा या वस्तु के संबंध में विद्वानों की एकाधिक राय या विचार होते हैं उसी प्रकार यथार्थबोध पर भी मतवैभिन्य है। जहां तक प्रश्न है आदिवासी जीवन पर आधारित साहित्य का तो आदिवासी जीवन अपने आप में बहुत बड़ा यथार्थ है उसमें बहुत ज्यादा मिश्रण की संभावना होती ही नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात आज तक वैसे

आदिवासी जीवनाधारित कथा साहित्य लेखन की परंपरा धीरे धीरे सुदृढ़ता प्राप्त कर रही है। बहुत सी कृतियाँ हैं जिन्होंने मील के पत्थर का कार्य किया है। आदिवासी चेतना से संबंद्ध कथा साहित्यिक कृतियों में जनजातियां ही केंद्र में रख रखी गई हैं। आदिवासी साहित्य रचना की भी कई दृष्टियां हैं। पूर्णरूपेण आदिवासी जीवनाधारित कृतियाँ, गौण रूपेण आदिवासी जीवनाधारित कृतियाँ, आदिवासी साहित्यकारों द्वारा रचित कृतियाँ, आदिवासीत्तर लेखकों द्वारा रचित साहित्य, निश्चित आदिवासी समूहों पर आधारित रचनाएँ,. एक ही आदिवासी समूह पर आधारित रचनाएँ, विद्रोह परक तथा ईसाईमत से प्रभावित आदिवासी साहित्य, बंधुआ मजदूरी, जर जोरू जमीन पर आधारित आदिवासी रचनाएं तथा आदिवासी संस्कृति, धर्म एवं आर्थिक विशमता पर आधारित रचनाएँ आदि के रूप में आदिवासी संबंधित कथा साहित्य वर्तमान में अच्छी मात्रा में उपलब्ध है।

भारत में लगभग 10 से 18 प्रतिशत जनसंख्या आदिवासी समुदायों की है। यद्यपि उन्हें संवैधानिक संरक्षण प्राप्त है। परंतु आर्थिक संरक्षण के अभाव में उन्हें दैनिक आवश्यकताओं तक की पूर्ति के लिए प्रतिदिन संघर्ष करना पड़ता है। खेदजनक है कि स्वतंत्रता के सात दशक बाद भी आदिवासी आदिम अवस्था में जीवन यापन करने के लिए विवश हैं लेकिन धीरे धीरे समाज के बुद्धिवादी वर्ग का ध्यान आदिवासियों की और आकृष्ट हो रहा है। सम्प्रति, आदिवासियों के जीवन को साहित्य में अभिव्यक्ति प्राप्त् हो रही है। आदिवासी साहित्य धारा का प्रारंभ अधिकांशतः गीत या कविता के माध्यम से हुआ। आदिवासी कवियों में वाहरु सोनवणे, हरिराम मीणा, अनुज लुगुन, केशव मेश्राम, महादेव टोप्पो, डॉ.रामदयाल मुंडा, दिनानाथ मनोहर, आदि का नाम उल्लेखनीय माना जाता है। डॉ. मंजू ज्योत्स्ना ने 'ब्याह' कविता, सरिता बड़ाइक 'मुझे भी कुछ कहना है' आदि सशक्त आदिवासी विमर्शीय कविताएँ प्रस्तुत की। आदिवासी रचनाकारों की कविताओं में विभिन्न सामाजिक विद्रोह, नारी का जीवन–संघर्ष, विस्थापन, अस्तित्व की समस्या और शिक्षा जैसी समस्याएँ प्रमुख रूप से उकेरी गईं। लोकगीत, लोककथाओं के मौखिक रुप में प्राप्त आदिवासी साहित्य की असम, मिजोराम, नागालैंड, मणिपुर, झारखंड आदि में आदिवासी आंदोलन अपनी अस्मिता के अन्वेषण का प्रयास करती रहीं। कवियों, कहानीकारों एवं उपन्यासकारों ने बोड़ो साहित्य की समृद्ध परंपरा देखी जा सकती है।

1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों की तीव्रता ने आदिवासी शोषण की प्रक्रिया को भी अपेक्षाकृत रूप से तीव्र किया और उसी के प्रतिरोध स्वरूप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर साहित्यिक आंदोलन का ही परिणाम आदिवासी साहित्य है। न सिर्फ आदिवासी बल्कि गैर–आदिवासी रचनाकारों ने भी इस आंदोलन में बढ़–चढ़कर हिस्सा लिया और वर्तमान में भी ले रहे हैं। आदिवासी साहित्य का भूगोल, समाज, भाषा, संदर्भ इत्यादि शेष साहित्य की तुलना में पर्याप्त रूप से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार आदिवासी समुदाय, समाज तथाकथित मुख्यधारा से आज भी पृथक हैं। अस्मिता की तलाश, शोषण के विरूद्ध आवाज के रूप में आदिवासी साहित्य सवर्णों या सुविधाभोगी समाज के प्रतिरोध का साहित्य है।

भारतीय साहित्य जगत में आदिवासी जनजीवन, संघर्ष को प्रमुखता से उठाने का कार्य कई पत्र–पत्रिकाओं ने किया जिनमें 'युद्धरत आम आदमी', 'अरावली उद्घोष', 'झारखंडी भाषा साहित्य, संस्कृति अखड़ा', 'आदिवासी सत्ता' आदि मुख्य मानी जाती हैं। मुख्यधारा पत्रिकाएं मानी जाने वाली 'समकालीन जनमत' 'दस्तक', 'कथाक्रम', 'इस्पातिका' आदि की भूमिका भी महत्वापूर्ण रही। मीडिया के क्षेत्र में 'तरंग भारती' (पुष्पा टेटे), 'देशज स्वर'(सुनील मिंज) तथा सांध्य दैनिक 'झारखंड न्यूज लाइन' (शिशिर टुडु) ने भी प्रमुखता के साथ संघर्ष का अलख जलाए रखा है।

गोपीनाथ मोहंती ने ओड़िया भाषा में 'अमृत संतान' और 'प्रजा' आदि उपन्यासों के माध्यमम से आदिवासी साहित्य की यात्रा में योगदान दिया। 'किस्सागो' को आदिवासी साहित्य हेतु नोबेल पुरस्कार से सम्मान प्राप्त हुआ। 'ग्लोबल गांव के देवता'(रणेन्द्र), 'धूणी तपे तीर'(मीणा) इस दिशा के सफल उपन्यीस हैं।'पथेरा' (किशन पाल परख), 'हमलावर' (विपिन बिहारी), 'एकलव्य'(परमानंद राम), 'कोलार जल रहा है'(शीलबोधी), 'सीता–मौसी'(रमणिका गुप्ता) 'बहू जुठाई', 'भीड़ सतह में चलने लगी है', भला मैं कैसे मरती', संग्रह''आदमी से आदमी तक',) 'विज्ञापन बनते कवि' (रमणिका गुप्ता), 'नन्हें सपनों का सुख' (सरिता बड़ाइक), 'आदिवासी कहानियाँ'(केदारनाथ मीणा), 'भँवर' (कैलाश चंद्र चौहान) आदि लेखकों ने आदिवासी जीवन पर जो रचनाएँ लिखीं वे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

3. मधु काकरियां के उपन्यासों में आदिवासी जीवन की समस्याएं

हिंदी का कथा–साहित्य गहन और व्यापक हैं। हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास एक

लोकप्रिय विधा रही है। स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, थर्डजेंडर विमर्श और आदिवासी विमर्श को दृष्टि में रखकर उपन्यासों का सृजन अच्छी मात्रा में हो रहा है। आदिवासी विमर्श केंद्रित उपन्यासों की अब तक लंबी परंपरा रही है कहना अतिश्योक्तिपूर्ण न होगा– ''आदिवासियों के जटिल जीवन चित्र को अंकित करने के लिए लेखक कहीं मोटी रेखाएं खींचता है, कहीं पतली, कहीं अवकाशों को भरने के लिए दो–चार बिंदु अपनी तूलिका से जड़ देता है। अनेक पर्वो, उत्सवों, परम्पराओं, विश्वासों, व्यथा के अवसरों, गीतों, संघर्षों, प्रकृति के रंगों, पुराने–नए जीवन–मूल्यों से लिपटा हुआ आदिवासियों का जीवन अभिव्यक्ति के एक नए माध्यम की अपेक्षा करता है।''(प्रो. के. बी. कलासवा, आदिवासी केंद्रित हिंदी उपन्यास, पृ. 64) आदिवासी संघर्ष के संबंध में मधु कांकरिया लिखती है कि ''आदिवासियों को जंगल, नदी और पहाड़ों से घिरे उनके प्राकृतिक और पारंपरिक परिवेश से बेदखल किया जा रहा है। अभी तक वह अपने विश्वासों, रीति–रिवाजों, लोकनृत्यों और लोकगीतों के साथ कुओं, मवेशियों, नदियों, तालाबों और जड़ी–बूटियों से संपन्न एक जनसमाज में रहता आया है। इसकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति रही है। उसका अपना विकसित अर्थतंत्र था। वह अपने पुश्तैनी, पारंपरिक और कृषि आधारित कुटीर धंधों से परंपरागत था। बढ़ईगिरी, लोहारगिरी, मधुपालन, दोना पत्तल, मधु उत्पादन, रस्सी, चटाई, बुनाई जैसे काम उसे विरासत में मिले थे परंतु आज खुले बाज़ार की अर्थव्यवस्था ने सदियों से चले आए उनके पुश्तैनी और पारंपरिक धंधों को चौपट कर दिया है।"(उषा कीर्ति रावत, सतीश पांडे, शीतला प्रसाद दुबे (सं.),आदिवासी केंद्रित हिंदी साहित्य, हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012,पृ. 17) मधु काकरिया के अब तक खुले गगन के लाल सितारें, सलाम आखिरी ,पत्ताखोर, सेज पर संस्कृत, सूखते चिनार, हम यहां थे, कुल 6 उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में उत्के रित आदिवासी विमर्श को अग्रलिखित रूप में देखा जा सकता है–

3.1 'खुले गगन के लाल सितारे'

'खुले गगन के लाल सितारे' उपन्यारस में नक्सतलवादी आंदोलन तथा उससे संबंधित क्रांतिकारियों के जीवन संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है। 1970 से 72 के मध्य कोलकाता के हाथीबगान क्षेत्र में हुई घटना उपन्यास के केंद्र में रखी गई है। आदिवासियों के दुख, दर्द, आक्रोश, वेदनाओं को शासन एवं देश के कर्णधारों द्वारा किस प्रकार अनसुना कर उन्हें प्रताड़ित किया जाता है आदि का चित्रण उपन्यास में प्राप्त होता है। मणि, इंद्र, गोपाली दा, कामरेड दिलीप विश्वास, शंभू, सुभाशीष जहां आदिवासी आंदोलन के प्रमुख पात्र हैं वहीं एंटी नक्सलाइट प्रमुख इंस्पेक्टर रमेन नियोगी प्रशासन का प्रतिनिधि है।1967 ई में पश्चिम बंगाल के नलपाईगुड़ी से नक्सलवादी आंदोलन का छिड़ना आदिवासी संघर्ष के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। बिहार में गुमला–लोहरदगा जैसे आदिवासी अंचलों में रहने वाले आदिवासियों का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। अनपढ़ आदिवासी भले ही अशिक्षति एवं भोली प्रकृति के होते हैं परंतु अपनी संस्कृति से जुड़े रहते हैं। उनके अल्प जानकार एवं भोलेपन के कारण ही शहरवासी उन्हें लूटते हैं। उनका शोषण करते हैं। भयंकर गरीबी में जीवन यापन करते हैं। कूडे–कचरे से अन्न के दाने चुनते हैं और अकाल में संतान तक को बेचने के लिए मजबूर होते हैं। इंद की यादों में भटकती हुई मणि बहुत वर्षों से अपने जीवन को किस दिशा में ले जाए उसका फैसला तक नहीं कर पाती है। वस्तुंतः मणि हर उस आदिवासी स्त्री का प्रतिनिधि कही जा सकती है जिसका पति आंदोलन में कूद चुका है। मधु कांकरिया ने उपन्यासों की स्त्री पात्रों के माध्यम से व्यक्तिगत संघर्षों के साथ–साथ आदिवासियों के पारिवारिक संघर्षों को भी बहुत ही गहनता के साथ प्रस्तुत किया है। नक्सकलवादी आंदोलन में आदिवासियों के कई परिवारों की संतानें क्रांतिकारियों के आंदोलन के 'लाल सितारे' बन चुके हैं जिनका वापस आना सिर्फ उनकी स्मृतियों ही है या फिर गगन में। आदिवासियों की दयनीता का चित्रण करते हुए मधु जी इस उपन्यांस में लिखती हैं–'' मां घर में अंदर नंगी बैठी थी, आपको जाने देता तो बिगड़ जाती–मां और दादी दोनों के पास एक ही साड़ी है न ।''(खुले गगन के लाल सितारे, पृष्ठो सं.95)

आदिवासी चूंकि अशिक्षित होते हैं इसलिए अंधविश्वासी भी बहुत होते हैं। पहचान के लिए युवकों के बाएं हाथ की कलाई पर चवन्नी एवं अठन्नी के निशान बनाए जाते हैं। उपन्यास का आदिवासी पात्र व्योमकेश बताता है–''बचपन में ही रूई को तेल में भिगोकर कलाई पर रख दिया जाता है, फिर उसे अग्नि से प्रज्जवलित कर दिया जाता है। जलती हुई चमड़ी की वेदना को सहन करना पुरूषार्थ की निशानी समझा जाता है। यदि कोई इसे सहन नहीं कर पाए तो इसे लज्जा की बात समझा जाता है।''(खुले गगन के लाल सितारे, पृष्ठ सं.100)

3.2 सेज पर संस्कृत

'सेज पर संस्कृंत' में झारखंड के गिरिडीह नामक क्षेत्र के आदिवासियों की समस्याओं का चित्रण प्राप्त होता है। गिरिडीह पहाड़ पर मंदिरों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। मंदिर बनने पर आदिवासी खुश होते हैं और खाना

मिलने के लिए आशान्वित होते हैं। आदिवासी महिला लेखिका से कहती है—''बनते रहे मंदिर....जब तक बनते रहेंगे, पेट में भात और दाना पड़ता रहेगा।''(सेज पर संस्कृत, पृष्ठ सं.19) यात्रियों को पहाड़ पर डोलियो में बिठाकर ले जाना तथा नए मंदिरों के निर्माण के लिए सामग्री ले जाना ही आदिवासियों के लिए रोजगार का साधन है। डोली में यात्रियों को पहाड़ पर ले जाने एवं सामान को ले जाने के दौरान आदिवासी दुर्घटनाओं का शिकार होते हैं। एक दिन एक डोली वाला स्वयं कई दिनों से भूखा होता है वह गिर पड़ता है उसका घुटना टूट जाता है परंतु वह डोली में बैठे यात्री को बचा लेता है। यात्री उठता है और बिना किसी संवेदना के डोली का किराया 370रूपए डोली वाले के साथी को दे चला जाता है। भूख और बेचारगी का चित्रण उपन्यास की एक घटना से सहज ही लगता है जिसमें मुंबई से आया हुआ एक परिवार बची हुई बासी पूड़ियों की टोकरी को आदिवासियों के मध्य में फेंक देता है। उस मंजर का चित्रण करते हुए लेखिका लिखती हैं— ''चील की सी फुर्ती से डोली वाले, बच्चे और उनकी स्त्रियां इस माल पर टूट पड़े थे। किसी के हाथ कुछ लगा तो कोई हाथ मलता ही रह गया।''(सेज पर संस्कृेत, पृष्ठ सं.35)

4. मधु कांकरिया की कहानियों में आदिवासी जीवन की समस्याएं

मधु कांकरिया की कहानियां भी आदिवासी जन जीवन की समस्याओं को बहुत गहनता से प्रस्तुत करती हैं। कहानी 'भरी दोपहरी के अंधेरे' में पहाड़ी, बेबस आदिवासियों के जीवन को उकेरा है। पहाड़ों पर जीवन व्यतीत करते आदिवासी दो वक्ते की रोटी के लिए दिनरात संघर्ष करते हैं। पहाड़ों पर आदिवासियों को पहले तो काम नहीं मिलता और जब काम मिल भी जाता है तो उन्हें 50 से 70 किलो का बोझ लादकर ये लोग डोली लेकर पहाड़ो पर चढ़ते हैं और मजदूरी के रूप में 350 रूपए मात्र मिलता है। वह भी रोज नहीं मिलता। आदिवासी, तुरिया और मियां जाति के लोग अत्यंत निर्धनता में जीते हैं।'' का करेंगे बैनजी, हर धर्मशाला में हजार डोली वाला.......सब मिलाकार चार हजार डोली वाला.....मुश्किल से महिने में एको बार नंबर आती है।'' (भरी दोपहेरी के अंधेरे और अंत में ईशु, पृष्ठ सं.31) भोजनाभाव में शारीरिक दुर्बलता आम बात है डोली उठाते हुए वे चक्कर खाकर भी गिर पड़ते हैं और शारीरिक रूप से क्षति झेलते हैं, जख्मी हो जाते हैं। जिन मंदिरों में यात्रियों को दर्शन कराने के लिए ये लोग डोलियां उठाते है उन मंदिरों को यात्रियों से बहुत कमाई होती है परंतु वे आदिवासियों की किसी भी परेशानियों में सहायता नहीं करते हैं। ये डोली वाले भी चुपचाप कष्ट सहते रहते हैं क्योंाकि यदि किसी प्रकार मंदिर तक सूचना पहुंच गई तो ''अगली बैर डोली भी नहीं मिलेगी। मैनेजर बोलेगा, ताकत नहीं है, डोली क्यान खींचेगा।'' (भरी दोपहेरी के अंधेरे और अंत में ईशु, पृष्ठ सं. 43) जो कमाई कभी कभार हो जाती है वह भी नहीं होगी। इसलिए अत्याचार सहने के लिए विवश हैं!

'महाबली पतन' कहानी में आदिवासी क्षेत्रों में असंतोष के फलस्वंरूप फैल रही नक्समलवाद की समस्या को प्रस्तुत किया गया है। 'कुल्ला ' कहानी में आदिवासी समाज में स्त्री शोषण को दर्शाया गया है। इस कहानी की नायिका प्रमिला अपने पति से बेहद प्रेम करती है। पति जब काम से घर वापस आता है तो फूलों की डिजायन वाला बांबे डाइंग का गमछा आधा भिगोकर देती है। अपने आंचल से उसका मुंह पोंछती है। मनपसंद खाता बनाकर खिलाती है। उसकी हर सुख सुविधा का भरसक ख्यामल रखती है परंतु उसका पति उससे प्रेम नहीं करता। वह अपनी पत्नी को भेंस बराबर समझता है। पति के पसीने की दुर्गंध उसे असहनीय होती है फिर भी सहती है। एक दिन उसका पति उसकी पीठ पर कुल्ला दे मार देता है और पूंछने पर पौरूषिक अहंकार में कहता है कि 'मजाक में थूक दिया। इतनी लाल पीली क्यों हो रही है।'' (कुल्ला और अंत में ईशु, पृष्ठ सं.19)

मधु कांकरिया के कहानी संग्रह 'जलकुंभी' में13 कहानियां प्रकाशित की गई हैं। इन कहानियों में भी पारंपरिक किस्सागोई का बहुत अच्छा परिलक्षण होता है। विशुनपुर के जंगल मधु कांकरिया को पहले से ही आकर्षित करते रहे हैं। 'खुले गगन के लाल सितारे' से लेकर इस संग्रह की कहानियों तक की की पृष्ठभूमि में आदिवासियों के जीवन के अनुभव बार बार आए हैं। 'दबी दबी लहरें' वैसी ही एक कहानी है जहां आकर लेखिका आदिवासियों के नैसर्गिक जीवन व जंगल कुमार के एनजीओ के कार्यकलाप देखती और प्रसन्न होती है पर इस बात से खिन्न भी कि कैसे लोगों ने वन्य पशुओं को जंगल से हकाल कर उन्हें बेदखल कर दिया है। यह कहानी आदिवासियों के मन में धीरे धीरे सुलगती असंतोष की अग्नि की ओर इशारा करती है। इसमें एक आदिवासी स्त्री के कठिन जीवन की दास्तान है जो आदिवासियों के जीवन से आंतरिक स्तर तक जुड़े हुए लिख पाना संभव नहीं है।

5. निष्कर्ष

मधु कांकरिया के कथा साहित्य में हमें आदिवासी समाज में व्याप्त नक्सकल, नशापान, बेरोजगारी, निर्धनता, अनमेल विवाह, आत्महत्या, धार्मिक पाखंड, धर्मांतरण, पारिवारिक कलह, असफल प्रेम, भ्रष्टा चार, वेश्याए,

परित्यंक्ता भ्रूणहत्या, बलात्कार, स्त्री शोषण आदि का बहुत ही गहनता के साथ चित्रण किया है। 'खुले गगन के लाल सितारे, सलाम आखिरी उपन्यासों तथा ईशु, भरी दोपहरी के अंधेरे आदि के माध्यम से आदिवासी जीवन की समस्याओं का चित्रण किया है। खुले गगन के लाल सितारे उपन्यास में आलोक भगत नामक पात्र 'वन बंधु कल्याण निकेतन' संस्था के माध्यम से आदिवासी कल्याण के कार्य करते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन आदिवासियों की समस्याओं को हल करने के लिए समर्पित कर देता है। सलाम आखिरी में नक्सलवाद और वेश्यावृत्ति को प्रमुख आधार बनाया गया है। बीतते हुए, भरी दोपहरी के अंधेरे, और अंत में ईशु तथा चिड़िया ऐसे मरती है' आदि कहानी संग्रहों की कहानियों में आदिवासी जन जीवन में व्याप्त अनेकों समस्याओं को उठाया गया है। मधु जी ने अपने उपन्यासों एवं कहानियों में आदिवासी जीवन की समस्याओं का अंकन बहुत ही सूक्ष्मता के साथ किया है तो भी कहानियां गढ़ीं हैं। उन्होंने श्रमिकों, मजदूरों, कामकाजी स्त्रियों, सेक्सवर्कर्स, बाल मजदूर, आदिवासियों के बीच काम करने वाले लोग, परित्यक्ता स्त्रियां, समाज–सुधार में लगी संस्थाओं आदि के माध्यम को आधार बनाकर दबे–कुचले आदिवासियों की अस्मिताबोध को प्रस्तुत किया है। वे अपनी लेखनी के माध्यम से संदेश देती हैं कि भले आदिवासियों को नित कुचला, दमित किया जाता है परंतु जिनकी जिजीविषा मरी नहीं है। वे भले ही बहुत धीमी गति से ही सही नई जिंदगी, नए भविष्य की ओर अग्रसर हैं। मधु कांकरिया कहानी एवं उपन्यास लेखन कला में संवेदनासिद्ध साहित्यकार हैं। पठनीयता एवं कथ्य की प्रयोजनीयता और प्रासंगिकता उनके कथा साहित्य को बहुत ही महत्वपूर्ण बनाती है।

संदर्भ –

1. डॉ. नगेंद्र, मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खंड, पृष्ठ सं. 232
2. प्रो. के. बी. कलासवा, आदिवासी केंद्रित हिंदी उपन्यास, पृ.64
3. उषा कीर्ति रावत, सतीश पांडे, संपादक–शीतला प्रसाद दुबे, आदिवासी केंद्रित हिंदी साहित्य, पृष्ठ सं.17
4. मधु कांकरिया, खुले गगन के लाल सितारे, पृष्ठ सं. 95
5. वही, पृष्ठ सं.100
6. मधु कांकरिया, सेज पर संस्कृत, पृष्ठ् सं.19
7. मधु कांकरिया, सेज पर संस्कृत, पृष्ठ् सं.35
8. मधु कांकरिया, और अंत में ईशु, पृष्ठ सं. 31
9. मधु कांकरिया, भरी दोपहरी के अंधेरे, पृष्ठ सं. 43
10. मधु कांकरिया, कुल्ला और अंत में ईशु, पृष्ठ सं. 19
11. मधु कांकरिया, जलकुंभी, पृष्ठ 136

■ ■ ■

प्रेम की अनन्यता का आदर्श

डॉ. प्रणव शास्त्री, डी.लिट्.
अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, उपाधि महाविद्यालय,
पीलीभीत–262001 (उ. प्र.)

ब्रजे बसन्तं नवनीत चौरं,
गोपांगनानां च दुकूल चौरं।
अनेक जन्मार्जित पापचौरं,
चौराग्रगण्यं पुरूषं नमामि।।

– श्रीमद्भागवत

ब्रज में बसने वालें, हमारे माखन को चुराने वाले, गोपियों के वस्त्र चुराने वाले, हम जीवों के अनेक जन्मों के पापों का हरण करने वाले, चोरों के सरदार हे पुण्यश्लोक श्यामसुन्दर! हम सब आपको नतशीश होकर प्रणाम करते हैं। हे नंद–नन्दन! आपसे हम सब की विनती है कि हमारा चित भी चुराकर हमारा जीवन धन्य करने की कृपा करें।

प्रथमतः हमें भारत में बह रही पश्चिमी बयार के कारण फैलती जा रही अपसंस्कृति पर दृष्टिपात करना होगा। फरवरी मास की चौदह तारीख को हमारे देश के तीन या चार प्रतिशत युवक और युवतियाँ गलतबहियॉ डाले नगर–नगर में प्रेम का इजहार करते नजर आएगें। कोई इनसे पूछे कि क्या हमारा भारत साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इतना निर्धन हो गया है कि आपको प्रेम के प्रकटीकरण के लिए रोम के सन्त वैलेन्टाइन के नाम का आश्रय लेना पड़ रहा है ? अरे धिक्कार है हमारे युवाओं को। क्यों इन्हें भारतीय मनीषी, चिन्तक, दार्शनिकों की सुध नहीं आती?क्यों नही ंयाद आते वेदव्यास ? क्यों नहीं स्मरण होता वशिष्ठ का, बाल्मीकि का, कणाद का, विश्वामित्र का, सांदीपन का, भारद्वाज मुनि का ? अरे हम तो प्रेम के विश्व–वितरक हैं। हमारे यहाँ तो प्रेम की अजस्त्र–धारा अहर्निश प्रवहमान है। युग–युगों से हमारे राष्ट्र में प्रेम–सरिता बहती रही है। यदि प्रेम का स्मरण ही करना है तो क्यों याद नहीं आती गोपियाँ ? जिन्होंने प्रेम के पाश में बॅधकर कान्हा को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। कदाचित् इसी बलिदान के कारण '' गोपी प्रेम की ध्वजा'' कहलायीं। प्रेम ही क्यों क्या हमारा अहिंसा, उदारता, दया, ममता, करुणा सहिष्णुता में प्रथम स्थान नहीं है ? हम तो सदा से ही ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' के अनुयायी रहे हैं। ''सर्वे भवन्तु सुखिनः''हमारा सदा से ही सूत्र वाक्य रहा है।

प्रेम यदि सीखना ही है तो हमें प्रेम की प्रथम पाठशाला गोपियों के श्रीचरणों में जाकर बैठना होगा। जहाँ वे लोक–लाज, सामाजिक मर्यादा, पति–प्रेम, पारिवारिक–बन्धन तज केवल और केवल अपने कृष्ण की हो गयीं। पर क्या आज तक किसी ने गोपियों के प्रेम पर लांछन लगाया? सभी तो उन्हें वन्द्य व पूजित मानते हैं। शायद समर्पण ही इसका मूलाधार बना। इन्हीं दैवीय गुणों के कारण ही प्रभु को भारतवर्ष ही अपने अवतार के लिए सर्वाधिक उपयुक्त देश लगा। तुलसीदास रामचरितमानस में कई स्थान पर प्रेम की महत्ता का वर्णन करते हैः–

''रामहिं केवल प्रेम पियारा
जन लेउ जो जानन हारा''

कबीर भी ऐसे ही विचार रखते हैं–''प्रेम न बाड़ी ऊपजे'' ब्रजभाषा काव्य में तो मानो प्रेम, कवियों का प्रमुख प्रतिपाद्य ही बन गया। गोपी कृष्ण के प्रेम की चर्चा करके स्वयं को धन्य मानने वाले घनानन्द का प्रेमवर्णन विश्व–साहित्य की अमूल्य निधि है। प्रेम की पीर का जैसा मार्मिक चित्रण इन्होनें किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी कविता में रीतिकालीन परिपाटी की अपेक्षा निजीपन और हृदय का उल्लास अधिक है। इनकी कविता में लौकिक प्रेम का पुट अधिक है, तथापि यह रीति प्रेरित न होकर भाव प्रेरित है। सर्वाधिक प्रसिद्ध इनके पद में प्रेम की कैसी अनूठी परिभाषा हैः–

अति सूधौ सनेह कौ मारग है जहॉ नैंकु सयानप बॉक नहीं,
तहॉ सॉचे चलैं तजि आपुनपौ झझकैं कपटी जें निसांक नहीं।
घन आनंद प्यारे सुजान सुनौ यहॉ एक ते दूसरौ ऑंक नहीं,
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मनु लैहु पै देहु छटॉंक नहीं।।

निम्न छन्द में भी अनुपम भाव व्यक्त हैः

तब तौ तुम दूरहिं ले मुसिकाय बचाव कै और की दीठि हॅसे।
दरसाय मनोज कौ मूरति ऐसी रचाय के नैननि में सरसे।।

अब तो उर मॉहि बसाय कै मारत एजु बिसासी, कहाँ धौं बसे।

कछु नेह–निबाह न जानत हौ तो सनेह की धार में काहे धॅसे।।

प्रेम में डूबकर व्यक्ति सुध–बुध खो बैठता है। बादल से बतियाते हुए अपनी पीड़ा घनानन्द इस प्रकार बाँट रहे हैं:–

घन आनन्द जीवन दायक हौ, कछु मेरियौ पीर हिये परसौ।

कबहू वा बिसासी सुजान के आगँन, मो अँसुवानहि लै बरसौ।।

प्रेम के विविध आयामों का सुन्दर चित्रण प्रमुख कृष्णभक्त कवि सूरदास ने किया है। गोस्वामी बिठ्ठलदास जी के समक्ष गाया उनका पद उनकी कीर्तिपताका को फहरा रहा है:

खज्जन नैन रूप रस माते।

अतिशय चारू चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।

चलि–चलि जात निकट स्त्रवनन के उलटि पुलटि ताटॅक फँदाते।

सूरदास अंजन गुन अटके, नतरू अबहिं उड़ जाते।।

सूर की गोपियाँ कृष्ण के निर्मोही हो जाने पर भी कृष्ण को कभी दोषी नहीं ठहरती। वे ऐसी परिस्थिति में दोषारोपण अपने ऊपर ही करती हैं और विचार करती है कि शायद हमारी प्रीति में ही कोई कमी रह गयी, इसी से कृष्ण हमें वियोगिनी बनाकर मथुरा चले गए हैं। उनका मानना है कि जितने पत्र हमने कृष्ण को लिखे वे शायद उन तक पहुॅचे ही नहीं अन्यथा कृष्ण अवश्य उनका उत्तर देते।

'सन्देसनि मधुवन कूप भरे'

एक अन्य दृश्य में राधिका अपनी उसी साड़ी का धारण किये है जिसे पहनकर उसने कृष्ण से प्रेमालाप किया था। साड़ी धोने पर उसे उन स्वेद –कणों के भी बह जाने का भय है:

हरि श्रम जल अन्तर तेहि भीजौ,

ऐहि लालच न धुवावति सारी।

ब्रजभाषा की अन्यतम कवयित्री, गिरधर गोपाल को अपने प्राणों से भी अधिक प्रेम करने वाली मीराबाई का प्रेम तो जग–विश्रुत है ही। निम्न दोहा उनका जयघोष करता प्रतीत होता है:

जौ मैं ऐसा जानती प्रीति किये दुःख होय।

नगर ढ़िढोरा पीटती प्रीति न करियो कोय।।

मीरा के समस्त पद तन्मयता से भरे हुए है। इनकी प्रेमपीड़ा में निजीपन अधिक है। इन्होनें गोपियों का विरह वर्णन न कर स्वयं अपना विरह निवेदन किया है। इनके पदों से इनकी तीव्रानुभूति का परिचय मिलता है। मीरा ने अपनी तन्मयता के कारण ही इतनी ख्याति प्राप्त की है और ह्दय की तीव्र सम्वेदना के कारण ही इनकी वाणी में इतना बल आ सका है। मीरा तो नन्दलाल को अपने नेत्रों में ही बसा लेना चाहती है:

बसौ मेरे नैनन में नन्दलाल।

मोहन मूरति सांवरी सूरति, नैना वने विसाल ।।

मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, अरून तिलक दिये भाल,

अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजन्ती माल।।

कृष्ण के सखाभाव की उपासना करने वाले एक अन्य ब्रजभाषा कवि रसखान तो कृष्ण एंव उनकी लीलास्थली ब्रज से इतना प्रेम रखते थे कि वे चाहते थे कि मेरा पुनर्जन्म यदि हो तो हर बार ब्रज में ही हो :

मानुष हो तो वही रसखान, वसो ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।

जो पशु हों तो कहा बस मेरै, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।।

पाहन हौं तो वही गिरि को, जु धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर धारन।

जो खग हौ तो बसेरौं करौं नित, कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।।

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य के तेजस्वी हस्ताक्षर जगन्नाथ दास रत्नाकर अपने उदृव शतक में गोपियों की मनोदशा का वडा मनोहारी चित्रण करते हैं। उनकी गोपियों में सूर की गोपियो की सी वैयक्तिक प्रेमनिष्ठा और नन्ददास की गोपिंयो की सी तार्क्रिकता है कृष्णसखा उदृव के गोकुल आगमन पर सब कुछ तजकर वे नन्द महल की और दौड़ पडती हैं :

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की सुधि ब्रजगावन में पावन जबै लगी।

कहै रतानाकर गुवालिनि की झौरि झौरि दौरि दौरि नन्दपौरि

आवन तबै लगी।।

प्रत्येक गोपी उद्वव से अपना सन्देश सुनाने का आग्रह कर रही है यह है प्रेम की अनन्यता। वे कहती है कि हम एकनिष्ठ होकर केवल कृष्ण को ही चाहती है।

मान्यौ हम, कान्ह ब्रहा एक ही, कहौ जो तुम,

तौहू हमें भावति ना भावना अन्यारी की ।

जैहे जनि बिगरि न वारिधता वारिधि की,

बूंदता बिलैहे बूंद बिवस बिचारी की।।

रत्नाकर के उदृव शतक की रचना भमरगीत परम्परा में हुई है किन्तु उस पर आधुनिकता की छाप दिखाई देती है। उनकी गोपियाँ आधुनिक विज्ञानजन्य सन्देहशीलता व्यक्त करती हुई कहती हैं

एते वड़े विश्व मॉँहि, हेरे हूँ न पैये जाहि,

ताहि त्रिकुटी में नैन मूँदि लखिबौ कहौ।

जब उद्धव अपना ज्ञान सन्देश देना बन्द नहीं करते तो गोपियाँ उनसे कहती हैं, अरे उद्धव तुम व्यर्थ ही इतिहास में अपनी बदनामी करवाने पर क्यों तुले हो? समाज कहेगा उद्धव ने गोपियों को प्रेम से विरत होने की शिक्षा दी ।

सुख के रहे न वे दिन तो दुख द्वन्द्व की न रातें रह जाएँगी,

घाते रह जाएँगी न कान्ह की कृपा ते इती, ऊधौ कहिबे कौ बस बातें रह जाएँगी।।

प्रेम की इसी अजरता और अमरता के कारण ही सूरदास को गाना पड़ा :

सबसे ऊँची प्रेम सगाई,

प्रेम के वस अर्जुन रथ हाँक्यौ, भूल गये ठकुराई

ऐसी प्रीत बढ़ी वृन्दावन,गोपियन नाँच नचाईं

दुर्योधन की मेवा त्यागी साग विदुर घर खाई।

सारतः कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण ब्रजभाषा काव्य प्रेम की पावन मन्दाकिनी में स्नान करके, आज भी जन–जन को तरंगित व आनन्दित कर रहा है यह सत्य है और यही भारतीय अवधारणा भी है।

■ ■ ■

छायावादी काव्य में सामाजिक व्यंग्य

डॉ. सलिल तिवारी
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
फखरूद्दीन अली अहमद राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, महमूदाबाद, सीतापुर

छायावादी काव्य में सामाजिक व्यंग्य

छायावादी कवियों का सामाजिक व्यंग्य बहुत ही प्रखर था। उन्हांने भारत की गुलामी और आजादी को बड़े ही निकट से देखा था। आजादी के बाद भी सामाजिक परिवर्तन देखने को नही मिलता है। छायावादी काव्य में सामाजिक व्यंग्य कोई अकस्मात् घटना नही है बल्कि छायावादी कवियों द्वारा स्वंय भोगा और देखा गया है जिसे वे अपने काव्य में व्यंग्य के माध्यम से करारा प्रहार करते है। छायावादी कवि अपने समय के समाज का सच दिखलाने का साहस किया ।

छायावादी कवि अपने समय के समाज से बखूबी परिचित थे शोषित, गरीब, असहाय, प्रताड़ितों के प्रति उनके मन में अनेक हृदय विदारक भावनाएँ जन्म ले रही थी और वे उसे अपनी कविता के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे थे । वे व्यंग्य के माध्यम से समाज में फैली अनैतिकता अत्याचार आदि पर करारा प्रहार करते है। व्यंग्य में भावना की अपेक्षा बुद्धि को अधिक महत्व दिया जाता है। साहित्यकार अपने समय के सच को दिखाने का कार्य करता है।

बौधिक अहं मनुष्य को पथभ्रष्ट बनाता है। वह इस संसार को मिथ्या मानकर किसी दूसरे लोक की कल्पना करता है। वह अपने जीवन में अपने कर्मो की अपेक्षा ग्रहों नक्षत्रों में अधिक विश्वास करता है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वंय होता है। जब तक आप कर्म नहीं करेगे तब तक भाग्य भी आपका साथ नहीं देगा। जब निराला से कोई ज्योतिषी कहता है कि आपके भाग्य में दो शादी है तो इस बात को झूठा साबित करने के लिये उन्होंने दूसरी शादी नही की और उस पर करारा व्यंग्य करते है–

पढ़, लिखे हुए शुभ दो विवाह
हँसता था, मन में बढ़ी चाह य
खण्डित करने को भाग्य–अंक
देखा भविष्य के प्रति अशंक[1]

दिन रात मेहनत करने वाले गरीब मजदूर के पास पहनने को कपड़े नहीं है, खाने का रोटी नहीं है, रहने को घर नहीं है और कुछ लोग अपने प्रिय के लिए महल बनवा रहे है जो मर गयी है । इस शव पर निर्मित महल को देखकर सौन्दर्य प्रेमी वाह–वाह करते हैं उसकी को देखकर कवि खिन्न होता है। मृतकों के लिये करोड़ों रूपयों में बनने वाले मकानों पर बड़ा करारा व्यंग्य करते है –

प्रेम–अर्चना यहीं, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल, भरें जीवन का प्रांगण?
शव को हम रूपय रंग आदर मानव का?
मानव को कुत्सित चित्र बना दे शव का[2]

सामाजिक भय के कारण समाज में प्रचलित कुप्रथाओं का पालन न करके छायावादी कवियां ने उसका विरोध किया। जातिवाद का भी प्रबल विरोध छायावादी कवि निराला में देखने को मिलता है वे अपनी पुत्री का विवाह कान्यकुब्ज ब्राह्मण के स्थान पर सरयूपारी ब्राह्मण से करते है। कान्यकुब्ज की परम्परा पर व्यंग्य करते हुये कहते हैं –

ये कान्य कुब्ज कुल कुलांगर
खाकर पत्तल में करे छेद
इनके कर कन्या, अर्थ खेद,
इस विषय बेलि में विष ही फल
है दग्ध मरूस्थल नही सुजल।[3]

सामाजिक मान्यता के विरुद्ध जाकर विवाह करना निराला का विवाह के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम था। वे मानते थे कि व्यक्ति जन्म से नहीं कर्म में महान होता है।यही कारण था कि वे कान्यकुब्जों के गलत कार्यो के प्रति अपनी घृणा को व्यक्त किया –

वे जो जमुना के–से कछार
पद फट बिबाई के उधार

खाये के मुहँ ज्यों, पिये तेल

चमरौधे जूते से सकेल

निकले जी लेते घोर गन्ध

उन चरणों को मैं यथा अंध

कल घ्राण–प्राण से रहित व्यक्ति

हो पूजूँ ऐसी नहीं शक्ति ।

ऐसे शिव से गिरिजा–विवाह

करने की मुझको नही चाह।[4]

संसार के प्रत्येक व्यक्ति के मन में किसी न किसी वस्तु की अभिलाषा होती है, किन्तु वह पूर्ण नहीं हो पाती । क्योंकि मनुष्य ज्ञान के अभाव में इस जीवन पथ पर भटकते रहते हैं । उनके इस स्थिति पर प्रसाद जी व्यंग्य करते हैं कि–

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है

इच्छा क्यों पूरी हो मन की ।

एक दूसरे से न मिल सके

यह विडम्बना है जीवन की।[5]

प्रसाद जी बुद्धजीवियों पर उनकी निष्क्रियता पर कटाक्ष करते हैं। ये धन से विचलित नहीं होते है किन्तु राष्ट्र के आर्थिक शोषण में क्षणिक सुख की कल्पना लिये उसमें लिप्त बुद्धजीवियों की संख्या अधिक है। ये अपने को अजर–अमर मानते हैं किन्तु जीवन में आनन्द के लिये छटपटाते रहते हैं। ये ज्ञानी बाहर से जितने संत प्रतीत होते हैं उतने ही हमेशा अपने दोषों सें डरे सहमें रहते हैं

देखो ये सब सौम्य बने हैं

किन्तु सशंकित है दोषो से,

वे संकेत दम्भ के चलते

भरू–चालन मिस परितोषों से।[6]

दूसरो में दोष निकालने वाले और केवल दोष पर ही ध्यान देने वाले स्वार्थ के वशीभूत होकर गुणवान व्यक्ति में भी केवल दोष देखते हैं और उनके गुणों की अवहेलना करते है–

स्निग्ध रजनी से लेकर हास,

रूप से भर कर सारे अंग,

नये पल्ल्व का घूँघट डाल

अछूता ले अपना मकरन्द

ढूँढ पाया है यह देश?

स्वर्ग है कि मोहक सन्देश।[7]

शोषण करने वाला व्यक्ति कहीं भी रहे उसके मन में कहीं न कहीं भय बना रहता है। उसके द्वारा किसानों का जो शोषण किया जा रहा है वह उसके पैशाचिक वृत्ति का परिणाम है

"जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर

तुझे बुलाता कृषक अधीर ,

ऐ विप्लव के वीर !

चूस लिया है उसका सार,

हाड़ मात्र ही है आधार ,

ऐ जीवन के पारावार!"[8]

किसान का यदि कोई सच्चा साथी है तो वह बादल ही है जो उसे जीवन प्रदान करता है। समाज के शोषण वर्ग पर यह करारा व्यंग्य है।

श्रद्धा, प्रेम और विश्वास की प्रतिमूर्ति नारी का निरादर करने वाला पुरुष, केवल भौतिक सुख को सुख समझना, नारी को केवल वासना की वस्तु समझने वाला पुरुष इस सांसारिक जीवन में कैसे सुकून पा सकता है?

मनुः तुम श्रद्धा को गये भूल

उस पूर्ण आत्म–विश्वासमयी को
उड़ा दिया था समझ तूल

तुमने तो समझा असत् विश्व जीवन धागे में रहा झूल

जो क्षण बीते सुख साधन में उनको ही वास्तव लिया मान

वासना–तृप्ति की स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान

तुम भूल गये पुरूषत्व–मोह में कुछ सत्ता है नारी की

समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।[9]

सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए, प्रेम के लिए अपना सर्वस्य न्योछावर करने वाली नारी के इस त्याग का जो भी मनुष्य सम्मान नहीं देगा वह दोषी होगा। उसके अन्तःमन में काटे की तरह चुभेगा। सत्य हमेषा कटु होता है किन्तु उसे झुठलाया नहीं जा सकता है। समर्पण और विष्वास की प्रतिमूर्ति नारी के हृदय के भाव को जो नही

समझ सकता वह अपूर्ण मनुष्य नारी के भौतिक देह को ही सब कुछ मान बैठता है–

मनु! उसने तो कर दिय दान

वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान

जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान

पर तुमने तो पायी सदैव उसकी सुन्दर जड देह मात्र

सौन्दर्य जलधि के से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र

तुम अति अबोध अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके

परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रूके

'कुछ मेरा हो' यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान

मानस – जलनिधि का क्षुड यान।[10]

हृदय में जब दूसरों के लिये प्रेम का भाव नही जगता और स्वार्थ पूरी तरह आप पर हावी रहता है। जब हृदय और मस्तिष्क आपके नियंत्रण से बाहर रहता है तब जीवन में केवल कष्ट ही मिलता है। ऐसी स्थिति में न वर्तमान में सुख मिलता है और भविष्य में सुख की कोई आशा दिखायी पड़ती है। हर तरफ केवल निराशा के बादल दिखाई देते हैं –

वह प्रेम न रह जाये पुनीत

अपने स्वार्थों से आवृत हो मंगल–रहस्य सकुचे सभीत

सारी संसृति हो विरह भरी , गाते ही बीते करूण गीत

आकांक्षा जलनिधि की सीमा हो क्षितिज निराषा सदा रक्त

तुम राग–विराग करो सबसे अपने को कर षतषः विभक्त

मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध, दोनो में हो सद्भाव नहीं

वह चलने को जब कहे कहीं तब हृदय विकल चल जाए कहीं

रोकर बीतें सब वर्तमान क्षण सुन्दर सपना हो अतीत

पेंगों में झूले हार–जीत ।[11]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि छायावादी कवियों ने अपने समय के समाज में व्याप्त विसंगतियों और बुराइयों को अपने कविता में स्थान दिया और उस पर करारा व्यंग्य भी किया।

सन्दर्भ :

1 राग विराग – सम्पादक राम विलास शर्मा पृ0 – 84

2 पंत रश्मिबन्ध, पृ0 – 75

3 राग विराग – सम्पादक राम विलास शर्मा पृ0 – 88

4 वही, पृ0 – 88

5 प्रसाद कामायनी रहस्य सर्ग पृ0 – 120

6 वही, पृ0 – 119

7 महादेवी वर्मा नीहार, पृ0 – 90

8 राग विराग – सम्पादक राम विलास शर्मा पृ0 – 56

9 प्रसाद कामायनी इड़ा सर्ग पृ0 – 63

10 वही, पृ0 – 64

11 वही, पृ0 – 65

■ ■ ■

'तुलसी की दार्शनिक चेतना में श्री राम'

डॉ0 कृष्णा जी श्रीवास्तव
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

गोस्वामी तुलसीदास को कवि कर्म का आदर्श माना जाता है। मध्ययुगीन साहित्य में सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं तुलसीदास। तुलसी किसी एक दार्शनिक मत अथवा सिद्धान्त से नहीं बँधे थे, उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे समन्वयवादी थे। उन्होंने भारतीय दर्शन के सभी सिद्धान्तों को अपने में समन्वित कर लिया था। जगतगुरू शंकराचार्य तथा श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद दोनों ही में ब्रह्म, जगत और स्थिति की व्याख्या की गयी है। तुलसीदास द्वारा विरचित विनयपत्रिका के अन्तर्गत कहीं इनके विश्लेषण में अद्वैतवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है, कहीं विशिष्टाद्वैत का। किन्हीं स्थलों पर तुलसी ने अपने स्वतंत्र विचारों का भी प्रतिपादन किया है।[1]

तुलसी के आराध्य राम ब्रह्म के ही रूप हैं। वे समस्त प्राणियों में व्याप्त हैं। इसमें सगुण और निर्गुण दोनों का पर्यवसान होता है। राम सच्चिदानन्द–स्वरूप, परमेश्वर तथा परात्पर नाथ हैं। इसी कारण ब्रह्म के विषय में जिन विशेषणों के प्रयोग वेद, पुराण और स्मृतियों में हुए हैं, वे सारे विशेषण तुलसी के राम पर आरोपित किये गये हैं। 'विनयपत्रिका' के अन्तर्गत दशरथनन्दन राम को परात्पर ब्रह्म के रूप में ही चित्रित किया गया है। राम में और वैदिक ब्रह्म में कोई अन्तर प्रतिभासित नहीं होता है। तुलसी के राम अनादि, अनन्त, अजन्मा, निर्विकार, निर्गुण, निरंजन, अनघ, अद्वैत तथा अनवद्य हैं। विनयपत्रिका के कुछ उदाहरण हैं–

'अनघ, अद्वैत, अनवद्य, अव्यक्त अज,

अमित अविकार, आनन्द सिन्धो'

ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निराकार है, परन्तु संसार के कष्टों को दूर करने के लिये वह सगुण रूप धारण करता है–

जयति सच्चिदव्यापकानन्द यद् ब्रह्म विग्रह व्यक्त लीलावतारी।

विकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोच बस, विमल गुन–गेह नर देहधारी।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि तुलसी ब्रह्म को निराकार और साकार दोनों मानते हैं। ब्रह्म ही अवतार लेने पर सगुण बन जाता है। राम पूर्ण मानवताधारी श्रेष्ठतम स्वरूप हैं।

विशिष्टाद्वैत, जीव और जगत को ब्रह्म न मानकर ब्रह्म का अंश मात्र मानते है, वैसे भक्ति का प्रतिपादन तभी हो सकता है, जब भगवान और भक्त दोनों की सत्ता अलग–अलग हो, यदि भक्त और भगवान दोनों एक हो गये तो कौन किसकी भक्ति करेगा, इसी कारण तुलसी भी जीव को ईश्वर का अंश मात्र मानते हैं–

''ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।''

परन्तु अज्ञान और माया (अभक्ति) के कारण जीव इस तथ्य को भुला देता है कि वह ब्रह्म का अंश है, बस यहीं से वह विषय में लिप्त हो जाता है और उसके लिए सांसारिक दुःख और क्लेश प्रारम्भ हो जाते हैं, विनयपत्रिका के एक पद में इसकी अच्छी व्याख्या की गयी है–

''बहु जानि जनम, जग विपति। मतिमन्द! हरि जान्यो नहीं।

श्री राम बिनु विश्राम मूढ़। विचारू लखि पायो कहीं।।''

अतः जब तक भक्त (जीव) को राम की कृपा की प्राप्ति नहीं होगी, उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, तब तक त्रय–ताप से उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार तुलसी ब्रह्म और जीव की सत्ता अलग–अलग स्वीकार करते हैं, परन्तु दूसरी और तुलसी जगत को ही ब्रह्म का प्रतिरूप मानने को तैयार हो जाते हैं–

'सियाराम मय सब जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी।''

तुलसीदास जगत को सत्य और असत्य दोनों मानते हैं, वास्तव में वे केवल राम के भक्त है, और राम के लिए वे खग, मृग, वृक्ष भी बनने को तैयार हो जाते हैं–

'खेलिबे को खग मृग तरू किंकर है रावरो नाम हौं रहिहौं।

राम की विविधता ही उनका ईश्वरत्व है। वे सम्पूर्ण सृष्टि के एक मात्र स्वामी हैं। अगुण, अरूप, अलख और अज ब्रह्म ही भक्तों के प्रेम के कारण सगुण रूप धारण करता है। जिस प्रकार जल और हिम उपल एक ही हैं, उसी प्रकार निर्गुण और सगुण भी एक ही है।

परमेश्वर भक्तों के हित के लिए सगुण रूप धारण कर लेते है। राम अपने अन्य अंशों के साथ अवतरित होते हैं। लक्ष्मण शेष के अवतार, सीता मूल प्रकृति, आदि शक्ति तथा नारायण की योग माया है। माया वह आदि शक्ति है जिसमें समस्त सृष्टि की रचना, स्थिति और संहार होता है। सभी देवता और जीव माया के वशीभूत हैं। माया के भ्रम और मिथ्यात्व को कोई टाल नहीं पाता।

इस प्रकार राम के द्वारा प्रेरित माया से सृष्टि की उत्पत्ति हुई। यह सृष्टि तद्रुप है। तुलसी जीव की मुक्ति के लिए एक उपाय बताते हैं वह उपाय है, रघुवर की कृपा, राम की दया। मनुष्य चाहे जितना प्रयास करे, परन्तु परात्पर राम की कृपा के बिना वह मोहपाश से नहीं छूट सकता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि तुलसीदास जी अद्वैतवादी नहीं थे वे तो पूर्णरुपेण राम के अधीन ही रहे। तुलसीदास का लक्ष्य महान था। उन्हें अंधकार का नद पार करना था। लोक के भीतर आस्था–विश्वास– उत्साह जगाना था। बाहर से भीतर तक फैले अंधेरों को उजाले में बदलना था। इसमें भक्ति बड़ा सहारा थी और कवि के लिए सर्जना का प्रतीक थी।[2]

''राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।

तुलसी भीतर बाहिरै जो चाहसि उजियार।''

मानस में राम द्वारा शिव की पूजा और शिव द्वारा राम की आराधना, झगड़ने वाले शैवो–वैष्णवों को परस्पर आदर सिखाती है। मानस के बालकाण्ड में ही उन्होनें अपना भक्ति आग्रह छोड़कर यह स्थापना दे दी थी– सगुनहिं अगुनिंह नहिं कछु भेदा।[3] जिस पर उत्तरकाण्ड में फिर मुहर लगाई 'भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।[4] स्पष्ट है कि तुलसी ने दूसरे के मत का भी सम्मान किया और कौशल के साथ अपने मत का प्रतिपादन भी कर दिया।

भक्ति में नाम की महिमा निर्गुण और सदगुण दोनों ब्रह्य स्वरुपों से श्रेष्ठ है। रूप के ज्ञान के अभाव में भी नाम स्मरण से साधक हृदय में स्नेह प्रादुर्भूत हो जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास अपने काव्य में राम नाम को अनेक बार कल्पवृक्ष कहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में मन को भी कल्पवृक्ष कहा गया है। मनुष्य का चेतन लगभग दस प्रतिशत और अचेतन नब्बे प्रतिशत अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। आचार्य डॉ0 त्रिलोकी नाथ सिंह के कथनानुसार अचेतन परम बलशाली और रहस्यमय तो है, किन्तु वह अच्छाई–बुराई में भेद नहीं करता, वह चेतन के बार–बार दोहराये गये आदेशों, कामनाओं आदि का पालन कर देता है। गोस्वामी तुलसीदास चित्त–चंचलता को जानते हैं, वे कहते हैं–

'एकौ पल न कबहुँ अलोल चित हित दै पद सरोज सुमिरौं।

मानव–मन हजारों प्रकार के भय और चिन्ता से घिरा रहता है। ऐसी स्थिति में रामनाम स्मरण और राम की कृपा–निकटता की अनुभूति, असीम सुरक्षा और आनन्द से मन को भर देती है। बिना इस अनुभूति के मन को शान्ति नहीं मिलने वाली। तुलसी का कथन है कि–

''सोइबो जो राम के सनेह की समाधि–सुख,

जागिबो जो जीह जपै नीकें राम नाम को।''

मानव जीवन अनेक सम्भावनाओं का भण्डार है। मोक्ष की दिशा में बढ़ते समय उसने पैरों में जंजीर बाँध रखी है, जबकि राम नाम की कुंजी उसी के पास है। तुलसी स्वयं अपने अनुभव से कहते हैं–

''नामु राम को कलपतरू कलि कल्यान निवासु।''

राम–नाम से सब कुछ मिलने वाला है, कोई कमी नहीं रहेगी–

''राम नाम कलपतरु जोई–जोई माँगिहै।

तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खाँगि है।''

राम नाम के प्रभाव से वैराग्य, योग, जप, तप सब अपने आप जाग्रत हो उठेंगे। 'राम–नाम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फलों को देने वाला है–

''राम नाम को प्रभाव जानि जुड़ी आगि है।

सहित सहाव कलिकाल भीरू भागि है।''

राम नाम सों विराग जोग जप जागि है।

नाम विधि भाल हूँ न कर्म दाग दागि है।

राम नाम कल्पतरू जोइ जाई माँगि है।

तुलसीदास स्वारथ परमार्थन खाँगि है।''

राम–नाम की महिमा के साथ ही धर्म विषयक विवादों का विवेचन करते हुए गोस्वामी जी ने वेदान्त, शैव, वैष्णव का समन्वय और बहुदेवतावाद का समाधान प्रस्तुत किया है। पुनर्जन्म आदि पर टिप्पणी करते हुए शबरी प्रसंग में नवधा भक्ति की नई व्याख्या की है। काव्यादर्श के अन्तर्गत उन्होंने लोकमंगल की पुष्टि की है। गोस्वामी

तुलसीदास ने 'मानस' को 'नाना पुराण निगमागम' लिखा है। हम पूर्ववर्ती एक साहित्य पर जब दृष्टिपात करते हैं तो यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि उसमें प्रणयन वाल्मीकि 'रामायण' आदि पूर्ववर्ती प्राचीन ग्रंथों का सहयोग लिया गया है। राम के विविध गुणों, शक्ति, शील और सौन्दर्य से आप्लाकित जो पूर्ण व्यक्तित्व हमें मानस में मिलता है, वह पूर्ववर्ती किसी भी एक काव्य में नहीं मिलता। समस्त रचनाओं को पढ़कर भी हम राम के सम्बन्ध में वह धारणा नहीं बना पाते जो तुलसी के 'मानस' में बनती है। युग–युग को प्रभावित करने में तुलसी को बहुत बड़ी सफलता मिली है। वे बेजोड़ कवि हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को सफल, सजीव और साकार बनाने वाले तुलसी ही हैं। विश्व में मानस को जो महिमा मिली है, वह विश्व के इने–गिने रचनाकारों को मिली है। हर जगह 'मानस' की गूँज है। विश्व–मानस मानसमय हो गया है। प्रभावात्मकता, गंभीरता, तथा लोकप्रियता की दृष्टि से रामचरित मानस विश्व में श्रेष्ठतम है। तुलसी ने विश्व के बीच राम के जिस आदर्श चरित्र को प्रतिष्ठित किया है, वह जन–जन के मन में, ह्रदय में बसता है। सब कुछ 'सियाराममय' हो गया है। राम के आदर्श को प्रतिष्ठित करने के आधार पर 'राम' महामानव से भगवान बन गये। ऐसे दृश्य–विचार विश्व साहित्य में दुर्लभ हैं।

भक्ति भावना को तुलसी ने कविता में सारवस्तु माना है। उनकी कविता उनकी भक्ति का ही प्रतिरूप थी। राम को उन्होंने मंजुल लोकरक्षक तथा लोकरंजक चरित्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होने पूर्ण मौलिकता के साथ 'मानस' में राम के चरित्र का वर्णन किया है। राम ने जो जीवन जिया वह उत्कृष्टता का स्वरूप बन गया। जिस पथ का उन्होने स्पर्श किया, वह प्रशस्तता का पथ हो गया। गोस्वामी जी आध्यात्मिक धर्मशील प्रकृति के व्यक्ति थे। सबके संरक्षक 'राम' के प्रेम ने उन्हे शीलमय धर्म का प्रेमी बनाया। तुलसी ने यद्यपि काव्यशास्त्रीय ढंग से काव्य की आत्मा को खोजने और प्रतिपादित करने का प्रयत्न नहीं किया, पर अपने ढंग से उन्होने स्पष्ट किया है कि सत्य काव्य की आत्मा है, परमात्मा सत्य स्वरूप है, अतः उनका वर्णन उनकी दृष्टि से परम आवश्यक है।[5]

राम शब्द से अभिहित व्यक्ति प्रतापी, उद्यमी, साहसी, पालक और न्यायकारी हैं। अनेक प्रकार की मीमांसाओं द्वारा सिद्ध हो चुका 'राम' शब्द अखिल विश्व के सर्जक, पालक और विसर्जक परममब्रह्म के समतुल्य पर्यायवाची नाम है। इस 'राम' नाम के चिन्तन, मनन, धारण और ध्यान करने से जीवन में ब्रह्म सुख अर्थात परम सुखानंद की अनुभूति होती है। कालान्तर में यही नाम जन–जन के लिए आराध्य और तारक बनकर हजारों वर्षों से हमारी भारतीय संस्कृतियों में समाहित होकर जीवन को आनंद और मंगल प्रदान करता रहा है।[6] राम का प्रत्येक रुप–स्वरुप और उनकी विविध रुपच्छवियाँ आकृष्ट करने वाली हैं। उनका समग्र कर्तृत्व आदर्श संपन्न और प्रेरक है। वात्सल्यग्राही के लिए ' ठुमुक चलत रामचन्द्र बाजे पैजनियाँ' का स्वरुप, वैराग्य और भक्ति सम्पन्न सहृदय के लिए ' मेरो सब पुरुषारथ थाक्यों / पायो परम विश्राम' इसी प्रकार सांसारिक झंझावातों और अनयत्रस्त के लिए उनका शरणागत रक्षक स्वरुप– 'जौ सभीत आवै सरनाई, रखिहौ ताहि प्रान की नाई।' ऐसी उनकी अनेक छवियाँ जनमानस में विद्यमान हैं।

निष्कर्ष यह है कि तुलसी जनजागरण के श्रेष्ठ कवि थे। तुलसी का चिन्तन गतानुगतिक नहीं है, बल्कि नितांत नया है। उनकी कविता की आधारशिला जनता की एकता थी, जो मिथिला से ब्रज और अवध प्रान्त तक कई शताब्दियों से नगरों एवं गाँवों में गूँजती रही है। साम्राज्यवादी, सामंती अवशेष, बड़े पूंजीपतियों के शोषण से हिन्दी भाषी जनता को मुक्त कराना तथा जातीय संस्कृति को विकसित करना उनकी साहित्य–रचना का मुख्य उद्देश्य था। तुलसीदास वास्तव में राम के भक्त थे, राम की भक्ति ही उनकी दार्शनिक आस्था थी, वही उनका दार्शनिक मत था, उनकी दार्शनिक चेतना में राम ही बसे हुए थे। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के कथनानुसार तुलसीदास की रामभक्ति वह पदार्थ है जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता और पवित्रता सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ0 राम किशोर शर्मा, पृ0 119
2. रामचरितमानस और रघुवंश, डॉ0 करूणा पाण्डेय, पृ0 204
3. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, पृ0 72
4. रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास, पृ0 533
5. संत भक्त कवि तुलसी, प्रो0 उभा मिश्र, पृ0 69
6. राम का आत्म–संवेद, जनमेजय पाठक, पृ0 7

■ ■ ■

भक्ति साहित्य में प्रकृति चित्रण

डॉ. राधेश्याम
असिस्टेंट प्रोफेसर
राजकीय महाविद्यालय, गौंडा, इगलास, अलीगढ़

सारांश

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्रकृति चित्रण की विशेष परम्परा पाई जाती है और उसमें भी विशेषतः हिंदी काव्य तो प्रकृति चित्रण का विपुल भंडार है। यह अकारण नहीं है क्योंकि प्रकृति से मानव का संबंध सृष्टि के प्रारंभ से ही माना जात सकता है। प्रकृति ही मानव जगत की अन्यतम संरक्षक एवं पालक रही है। साहित्य में मानव जीवन का प्रतिबिम्ब ही सर्वत्र परिलक्षित होता है इसलिए काव्य में प्रकृति का वर्णन आलंबन, उद्दीपन, उपमान, पृष्ठभूमि, प्रतीक, अलंकार, उपदेश, दूती, बिम्ब–प्रतिबिम्ब, मानवीकरण, रहस्य तथा मानव–भावनाओं आदि के रूप में हुआ पाया जाता है। प्रस्तुत शोधालेख में भक्तिकालीन साहित्य में प्रकृति चित्रण को विवेचन का प्रमुख प्रतिपाद्य बनाया गया है।

मुख्य शब्द –पर्यावरण संरक्षण, प्राकृतिक सौंदर्य, भावबोध,

प्रस्तावना

प्रकृति, व्यापकतम अर्थ में, प्राकृतिक, भौतिक या पदार्थिक जगत या ब्रह्माण्ड हैं। ''प्रकृति'' का सन्दर्भ भौतिक जगत के दृग्विषय से हो सकता हैं, और सामन्यतः जीवन से भी हो सकता हैं। प्रकृति का अध्ययन, विज्ञान के अध्ययन का बड़ा हिस्सा हैं। यद्यपि मानव प्रकृति का हिस्सा हैं, मानवी क्रिया को प्रायः अन्य प्राकृतिक दृग्विषय से अलग श्रेणी के रूप में समझा जाता हैं। हिंदी साहित्य के मध्यकाल को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्तिकाल नाम दिया है। उन्होंने भक्तिकाल की समय सीमा संवत 1375 वि. से संवत 1700 वि.तक मानी है। भक्तिकाल में सगुण एवं निर्गुण दो प्रमुख धाराएँ है। जिसमें सगुण भक्तिधारा के अंतर्गत दो शाखाएं निकल पडी।पहली रामकाव्य भक्तिधारा तो दूसरी कृष्णकाव्य भक्ति धारा। रामकाव्य के प्रर्वतक तुलसीदास है तो कृष्णकाव्य के प्रर्वतक सूरदास है। निर्गुण भक्ति धारा के अंतर्गत भी दो शाखाएं निकल पडी। जिसे ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी कहते हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रर्वतक कबीरदास है तो प्रेमाश्रयी शाखा के प्रर्वतक जायसी हैं। भक्तिकाल की विशेषताएँ तथा प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित है।

हिंदी में प्रकृति और पर्यावरण में अंतर नहीं किया जाता जो किया जाना जरूरी है। प्रकृति और मनुष्य का साथ मनुष्य के इस धरती पर अस्तित्व के साथ ही है। मनुष्य ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए आरंभ में प्रकृति को समझने, उसे नियंत्रित करने और अनुकूल बनाने की कोशिश की। फिर भी प्रकृति के अनसुलझे जटिल रहस्यों के आगे उसे कई बार चमत्कृत होना पड़ा। बड़ी मात्रा में प्रकृति और उसकी शक्तियाँ मनुष्य के नियंत्रण से बाहर ही रहीं। मनुष्य प्रकृति की देखी–अनदेखी शक्तियों से डरा और उसे प्रसन्न करने के लिए उसकी वंदना में ऋचा गीत लिख डाले। दुर्दम्य प्रकृति को उसने उस मात्रा में अपने अनुकूल बना लिया जितना कि उसके जीवन रक्षा के लिए आवश्यक था। वेद की ऋचाएं हों या आदि कवि की वाणी, सबमें प्रकृति और मनुष्य का सहज संबंध व्यक्त है। रामायण–महाभारत, कालिदास, संस्कृत साहित्य की अन्य महाकाव्यात्मक कलेवर वाली रचनाओं में प्रकृति और मनुष्य का सहज संबंध नजर आता है। आदिकालीन वीरकाव्यात्मक रचनाओं में प्रकृति का वर्णन वीरकाव्य की पृष्ठभूमि के अनुरूप हुआ है। साथ ही एक दूसरा बड़ा क्षेत्र जीवन की क्षणभंगुरता को दिखाने के लिए प्रकृति को उपदेशक की तरह पेश करना है। कबीर आदि भक्त कवियों में यह बखूबी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, "दिन दस फूला फूलिकै खंखड़ भया पलाश।" अथवा "माली आवत देखिकै कलियां करैं पुकार, फूली फली सब चुन लियो काल्ह हमारी बार।"

कबीर साहित्य में प्रकृति चित्रण

कबीर के काव्य में जगह–जगह प्रकृति अपनी पूरी गरिमा व भव्यता के साथ मौजूद है। यहाँ तक कि वह कई बार उपदेशक की भूमिका में भी नजर आती है, जो इस जटिल व विषमतामय जीवन की परिस्थितियों से उबरने में मनुष्य की सहायता करती है। ऐसे में यदि हम उनके काव्य में अभिव्यक्त इस पर्यावरणीय चेतना को समझ सकें!

कबीर का जन्म मध्यकाल की जिस संक्रमणकालीन बेला में हुआ था, उसमें मनुष्य तो मनुष्य, स्वयं प्रकृति भी अपना मार्ग बदल रही थी। उस समय गंगा की मात्र एक लहर पीछे छूट गयी थी, उससे जो ताल बना, बनारस में उसका नाम पड़ा– लहरतारा।(कबीर की परिनिर्वाण पंचशती (वार्षिक आयोजन शृंखला–2018), कबीर चौरा मठ

मूलगादी, वाराणसी, पृ. 6.) इसी तालाब के किनारे कबीर अपने पालनहार माता–पिता नीरू–नीमा से पहली बार मिले थे। अब ऐसे बालक का प्रकृति व उसके उपादानों से आत्मिक जुड़ाव होना स्वाभाविक है। कबीर के काव्य में जगह–जगह प्रकृति अपनी पूरी गरिमा व भव्यता के साथ मौजूद है। यहाँ तक कि वह कई बार उपदेशक की भूमिका में भी नजर आती है, जो इस जटिल व विषमतामय जीवन की परिस्थितियों से उबरने में मनुष्य की सहायता करती है। यथाः

कबीर मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।

तरवर थैं फल झड़ि पड्या, बहुरि न लागै डार।।

(कबीर ग्रंथावलीः साखी, सं.–श्यामसुन्दरदास, चितावणी कौ अंग, पद सं. 34, पृ. 114.)

अर्थात् जिस प्रकार संसार में मनुष्य का जन्म कठिनता से मिलता है उसी प्रकार लाख प्रयत्न करने पर भी एक बार शाख से तोड़ा गया, पत्ता वापस जोड़ा नहीं जा सकता। अतः देवोपासना अथवा किसी भी कर्मकांड के लिए पेड़ से पत्ता तोड़ना (बेलपत्र, धतूरा आदि) कबीर की दृष्टि में असंगत है। क्योंकिः

पाती तोरै मालिनी, पाती–पाती जीउ।

(संत कबीर, डॉ. रामकुमार वर्मा, राग आसा, पद–14, पृ. 104.)

प्रत्येक पत्ती में जीवों का निवास स्थान है, उसे अनावश्यक हानि नहीं पहुँचानी चाहिये। जो पत्ती अपनी सजीवता में पेड़ के लिए सौन्दर्यवर्धक व आभूषण के समान शोभाकारक है, वही उससे तोड़ लिये जाने के उपरान्त निर्जीव होने के कारण जीव–जन्तुओं के काम की नहीं रह जाती।

सबकी उतपति धरती, सब जीवन प्रतिपाल।

धरति न जाने आप गुन, ऐसा गुरु विचार।।

(सद्गुरु कबीर साहब कृत 'बीजक' विवेक प्रकाशिनी, बीजक टीका, टीकाकार–साध्वी ज्ञानानंद जी, श्री कबीर ज्ञान प्रकाशन केन्द्र, झारखण्ड, दोहा सं. 201, पृ. 478.)

ऐसी अप्रतिम सहनशीलता व महान दातव्य भाव के कारण कई बार वह गुरु से भी बड़ी प्रतीत होती है। पृथ्वीपुत्र वृक्ष भी परोपकार में उससे कम नहीं है। वह पक्षपातरहित होने के कारण सभी को समान रूप से छाया देता है। निरीह पशु–पक्षियों को आश्रय देता है। प्राणवायु ऑक्सीजन का संचार करता है। उसके फल–फूल, पत्ते और लकड़ी मनुष्य के काम आते हैं। कबीर के शब्दों में वृक्ष का वृक्षत्व उसके इसी परोपकार भाव में निहित हैः

वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै, नदी न संचौ नीर।

परमारथ के कारने, साधुन धारा सरीर।।(कविताकोश, कबीर दोहावली, दोहा सं. 912, पृ. 10)

अर्थात् ये मूलतः दूसरे के उपकार के लिए ही जीवन धारण करते हैं, इनका यह व्यवहार सज्जनों के स्वभाव के समतुल्य है। किन्तु स्वार्थी मनुष्य को इसकी परवाह कहाँ? वह तो हानिरहित होने पर भी पत्ती खाने वाले पशुओं को मारकर खा जाता है। कबीर इसे बड़ी गम्भीरता से लेते हैं और ऐसे लोगों को चेतावनी देते हुये कहते हैं किः

बकरी पाती खात है, ताको काढ़ी खाल।

जो नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल।।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, भक्तिकाल, प्र. 2 निर्गुण धाराः ज्ञानाश्रयी शाखा, पृ. 46, प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद)

वे पेड़–पौधों व जीव–जगत के संरक्षण को धार्मिकता से जोड़कर मनुष्य को प्रकृति की गोद में सहजता व सादगी से जीवन जीने की ओर प्रेरित करते प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि रोजमर्रा के जीवन में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों का समाधान भी वे प्रकृति के आश्रय में खोजते दिखाई पड़ते हैं। यथाः

कबीर तन पक्षी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।

जो जैसी संगति करे, सो तैसे फल खाइ।।

(कबीर ग्रंथावलीः साखी, संपा.–श्यामसुन्दर दास, संगति कौ अंग (26), दोहा सं. 7.)

यहाँ कबीर ने मनुष्य के सामाजिक जीवन में सत्संगति का महत्त्व बताने के लिए 'पक्षी' के प्राकृतिक प्रतीक का सहारा लिया है। इसी तरह वे बगुले और कौवे के प्रतीक के माध्यम से संसार में सफेदपोश लोगों की पोल खोलते हैं। ऐसे उद्धरण उनके लोकजीवन विषयक सूक्ष्म ज्ञान के परिचायक हैं।

रामचरित मानस में प्रकृति वर्णन

रामचरित मानस में प्रकृति वर्णन एक उल्लेखनीय

 ISSN : 0975-5403

प्रवृत्ति मानी जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने यथास्थान प्रकृति वर्णन किया है। प्राकृतिक चित्रण प्रायः आलम्बन और उद्दीपन रूप में ही प्रस्तुत हुआ है। कहीं–कहीं कवि प्रकृति के उपदेशात्मक तथा पृष्ठभूमि रूप का भी वर्णन करता है। तुलसीदास जी ने बालकाण्ड के पुष्पवाटिका निरीक्षण में प्रकृति के सौम्य व सुखद रूप का वर्णन करते हुए कहा है–

"बागु तडागु बिलोकि प्रभु हरशे बंधु समेत।

परम रम्य आरायु यहु जो रामहि सुख देत।।"(https://en.wikipedia.org/wiki/Ramcharitmanas)

अर्थात् बाग और सरोवर को देखकर प्रभु श्री रामचन्द्र जी भाई लक्ष्मण सहित हर्षित हुए यह बाग वास्तव में परम रमणीय है जो जगत को सुख देने वाले श्रीरामचन्द्र जी को भी सुख दे रहा है। तुलसी के राम जब प्रसन्न होते हैं तो सारी प्रकृति सुखमय हो जाती है जब राम दुःखी होते हैं तो उनके साथ सारी प्रकृति दुःखी प्रतीत होती है।

"निर्झर जलपावने कमल खिले

विचरे वे पक्षी पशु दर भूले।"
(https://en.wikipedia.org/wiki/Ramcharitmanas)

तुलसी जी ने रामचरितमानस में कई स्थलों पर प्रकृति का विशद वर्णन किया है। विशेषकर जब भरत राम से मिलने के लिए चित्रकूट जाते हैं तब कवि ने प्राकृतिक सुषमा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। प्रकृति चित्रण का उदाहरण देखिए :

"राम वास वन संपत्ति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाद सुराजा

सचिव बिरागु विवेक नरेसू। विपिन सुहावन पावन देखु।

खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष वृश साजु सराहा।

बथरु बिहाइ चरहिं एक संगाजहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा।।"

(https://en.wikipedia.org/wiki/Ramcharitmanas)

तुलसी जी कहते हैं कि श्रीरामचन्द के निवास से वन को सम्पत्ति ऐसी सुशोभित है मानो अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी हो। सुहावना वन ही पवित्र देश है। विवेक उसका राजा है और वैराग्य मंत्री है। गैंडा, हाथी, सिंह, बाघ, सूअर, भैंस और बैलों को देखकर राजा के साज को सरहाते ही बनता है। ये सब बैर छोड़कर राम राज्य में एक साथ विचरते हैं। प्रकृति में राम राज के कारण सामंजस्य स्थापित हो गया है। तुलसी ने उद्दीपन तथा अलंकार के अतिरिक्त प्रतीक, आलम्बन, उपदेश रूप का भी पर्याप्त प्रयोग किया। तुलसी का चातक और मेघ, भक्त और भगवान बड़े सुन्दर प्रतीक हैं। उपदेश रूप में तुलसी ने प्रकृति का सुन्दर प्रयोग किया है–

उदित अगस्त, पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोखै सन्तोषा।

सरिता सर निर्मल जल सोहा संत हृदय जस गत मद मोहा।।

(https://en.wikipedia.org/wiki/Ramcharitmanas)

मलिक मोहम्मद जायसी

मलिक मोहम्मद जायसी 1750 ई में रचित 'पद्मावत' हिंदी साहित्य के अन्तर्गत सूफी परम्परा का प्रसिद्ध महाकाव्य है। दोहा और चौपाई छन्द में रचित यह महाकाव्य अवधी भाषा की उत्कृष्ट रचना है। चौपाई की प्रत्येक सात अर्धालियों के बाद दोहा आता है और इस प्रकार आए हुए दोहों की संख्या 653 है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्रकृति चित्रण की विशेष परम्परा रही है और हिन्दी साहित्य (विशेषतः हिन्दी काव्य) भी प्रकृति चित्रण से भरा पड़ा है। यह अकारण बिल्कुल नहीं है। प्रकृति और मानव का सम्बन्ध उतना ही पुराना है जितना कि सृष्टि के उद्भव और विकास का इतिहास। प्रकृति की गोद में ही प्रथम मानव शिशु ने आँखे खोली थी, उसी के गोद में खेलकर बड़ा हुआ है। इसीलिए मानव और प्रकृति के इस अटूट सम्बन्ध की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य और कला में चिरकाल से होती रही है। साहित्य मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है, अतः उस प्रतिबिम्ब में उसकी सहचरी प्रकृति का प्रतिविम्बित होना स्वाभाविक है। काव्य में प्रकृति का वर्णन कई प्रकार से किया जाता है जैसे – आलंबन, उद्दीपन, उपमान, पृष्ठभूमि, प्रतीक, अलंकार, उपदेश, दूती, बिम्ब–प्रतिबिम्ब, मानवीकरण, रहस्य तथा मानव–भावनाओं का आरोप आदि। केशव ने अपनी कविप्रिया में वर्ण विषयों का उल्लेख निम्न प्रकार किया है। महाकवि मलिक मोहम्मद जायसी ने अपनी अमर कृति पद्मावत में प्रकृति वर्णन को पूर्ण प्रश्रय दिया है। उदहारण स्वरुप आगे देखें –

पिउ सौ कहेउ सँदेसडा, हे भौरा ! हे काग।

सो धनि बिरहै जरि मुई , तेहि क धुवाँ हम्ह लाग।।

रकत ढुरा माँसू गरा ,हाड भयउ सब संख।

जानि सारस होइ ररि मुई ,पीउ समेटहिं पंख।।(http://kavitakosh.org/inekor/मलिक मुहम्मद जायसी)

जायसी ने भी उद्दीपन के रूप में तथा रहस्य भावना की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकृति का प्रयोग किया है। सूफी मत में प्रकृति को परब्रह्म परमेश्वर का प्रतिबिम्ब माना जाता है। इसलिये प्रकृति का कण–कण अपने प्रियतम से मिलने के लिये लालायित रहता है। सूर ने अपने काव्य में उद्दीपन और अलंकार के रूप में प्रकृति का जो वर्णन किया है, वह अद्वितीय है। उद्दीपन के रूप में सूर का यह प्रकृति–वर्णन अपनी तुलना नहीं रखता –

बिनु गोपाल बैरिन भई कुन्जैं,

तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजै।

वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलै अलि गुंजैं।

पवन, पानि, घनसार, सजीवनि–दधिसुत किरन भानुभई भुंजै

(http://kavitakosh.org/inekor@मलिक मुहम्मद जायसी)

निष्कर्ष –

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भक्तिकालीन हिंदी काव्य मानव जीवन की अन्यतम अभिव्यक्ति प्रदत्त करता है जो कि प्रकृति के माध्यम से ही संभव है। प्रकृति मानव जीवन में प्रारंभ से अंत तक अपनी भूमिका का निर्वहन निर्वाध रूप से करती है। कवि सहृदय प्राणी होता है जब मानव समाज दुखी होता है तो उसे सम्पूर्ण प्रकृति उदास दिखाई पड़ती है और मानव प्रसन्न होता होता है प्रकृति भी खिलखिलाती हुई परिलक्षित होती है। भक्तिकाल के अधिकांश कवियों ने अपनी काव्य कृतियों में प्रकृति अन्यतम चित्र प्रस्तुत किए हैं।

संदर्भ

1. कबीर ग्रंथावलीः साखी, सं.–श्यामसुन्दरदास, चितावणी कौ अंग, पद सं. 34, पृ. 114
2. संत कबीर, डॉ. रामकुमार वर्मा, राग आसा, पद–14, पृ. 104.
3. सद्‌गुरु कबीर साहब कृत 'बीजक' विवेक प्रकाशिनी, बीजक टीका, टीकाकार–साध्वी ज्ञानानंद जी, श्री कबीर ज्ञान प्रकाशन केन्द्र, झारखण्ड, दोहा सं. 201, पृ. 478.
4. कविताकोश, कबीर दोहावली, दोहा सं. 912, पृ. 10
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, भक्तिकाल, प्र. 2 निर्गुण धाराः ज्ञानाश्रयी शाखा, पृ. 46, प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद
6. कबीर ग्रंथावलीः साखी, संपा.–श्यामसुन्दर दास, संगति कौ अंग (26), दोहा सं. 7
7. https://en.wikipedia.org/wiki/Ramcharitmanas
8. http://kavitakosh.org/inekor@efyd eqgEen tk;lh
9. https://www.hindikunj.com/2019/11/padmavat-malik-muhammad-jayasi.html

■ ■ ■

Universal Health Coverage and New Initiatives

Dr. Vishal Dubey
Associate Professor Economics
G.B. Pant Degree College Kachhla (Budaun)
Email/Mob.: ksh.vishal@gmail.com/ 7017106992

Abstract

The government has made several provisions to reduce OOPE and burden of diseases through Universal Health coverage- Ayushman Bharat.As per latest National Family Health Survey (NFHS)-5, social indicators such as total fertility rate, sex ratio and health outcome indicators viz., infant mortality rate, under-five mortality rate, institutional birth rates have improved over year 2015-16. Similarly, to increase affordability of healthcare the potential of AYUSH through National Ayush Mission (NAM) in reducing health expenses is immense. The Ayush healthcare services can be adopted in treatment of infertility and certain non-communicable diseases (NCD's) where people are free to choose Ayurvedic, Unani or Homeopathy treatments making healthcare more accessible, accountable and affordable. The public health services in rural areas require better governance mechanisms through adoption of technologies, local self-government and community participation. The lack of sanitation and hygiene protocols in health care facilities in India are cause for spreading infections and other diseases. The open defecation free (ODF) areas has reduced deaths due to malaria, diarrhoea especially in under-five children, still births and new born with weight less than 2.5 kg. This improved child health particularly in areas where household's latrines coverage was lower in 2015.

Keywords: Health Indicators, NFHS-5, Ayushmann Bharat, Swachh Bharat Mission

The government of India under National Health Mission and Ayushman Bharat is providing accessible, affordable and quality healthcare for making India healthy. The out-of-pocket expenditure (OOPE) still remains the major component of healthcare expenditure in India (66 percent) in comparison to developed countries of the world (10-20 percent), according to Global Health expenditure database, WHO in 2019. A major component of OOPE is expenditure on medicines. The government has made several provisions to reduce OOPE and burden of diseases through Universal Health coverage- Ayushman Bharat. Similarly, to increase affordability of healthcare the potential of AYUSH through National Ayush Mission (NAM) in reducing health expenses is immense. The Ayush healthcare services can be adopted in treatment of infertility and certain non-communicable diseases (NCD's) where people are free to choose Ayurvedic, Unani or Homeopathy treatments making healthcare more accessible, accountable and affordable.

In rural areas a large number of PHC's are functioning with one doctor or without doctors. The states with higher ratio of such PHC's indicate higher level of rural IMR and MMR (UP, Rajasthan, Assam) compared to other states. (Kerala, Maharashtra, Tamil Nadu). Moreover their participation in providing healthcare services may not be at optimum due to lack of supplies, inadequate infrastructural facilities and poor monitoring of staff. The public health services in rural areas require better governance mechanisms through adoption of technologies, local self-government and community participation.

The lack of sanitation and hygiene protocols in health care facilities in India are cause for spreading infections and other diseases. Therefore the ramification of Swachh Bharat Abhiyaan in public health system; 'Kayakalp' was introduced to improve healthcare delivery through public health facilities, improve beneficiary satisfaction by rewarding public health facilities to maintain cleanliness, hygiene and infection control. The open defecation free (ODF) areas has reduced deaths due to malaria, diarrhoea especially in under-five children, still births and new born with weight less than 2.5 kg. This improved child health particularly in areas where household's latrines coverage was lower in 2015.

HEALTH Programmes and Schemes for Health Sector

Ayushman Bharat Health and Wellness Centres (AB-HWCs)

The vision of Ayushman Bharat is to achieve the universal health coverage. It adopts a continuum of care approach, comprising of two inter-related components. The first component is creation of 1,50,000 Health and Wellness Centres (HWCs) which cover both, maternal and child health services and non-communicable diseases, including free essential drugs and diagnostic services. These ABHWCs provide Comprehensive

Primary Health Care (CPHC), by expanding and strengthening the existing Reproductive & Child Health (RCH) services and Communicable Diseases services and by including services related to Non-Communicable Diseases. It is also envisaged to incrementally add primary healthcare services for mental health, ENT, Opthalmology, Oral health, Geriatric and Palliative health care and Trauma care as well as Health promotion and wellness activitieslikeYoga.As on 19.01.2022, a total number of 221.99 lakhsTele-consultations have been provided under e-Sanjeevani tele-consultation platform through functional HWCs of 3017 Hubs & 33,819 Spokes across the country. About 96.27 lakh Wellness Sessions, including Yoga has been conducted at AB-HWCs as on 19.01.2022.

Ayushman Bharat Pradhan Mantri Jan Arogya Yojana (AB-PMJAY)

The second component of Ayushman Bharat is PM-JAY; it is being implemented by the National Health Authority (NHA) in partnership with state governments. The scheme provides a health cover of Rupees 5 lakhs per family per year for secondary and tertiary care hospitalization to over 10.74 crores poor and vulnerable families in the bottom 40 percent of the Indian population. As on 19th January 2022, total of 17.5 crore Ayushman Cards have been issued under AB PM-JAY. A total of 2.73 crore authorized hospital admissions worth 30673 crore have been provided through a network of approximately 25000 hospitals (approximately 10800 Private and 14300 Public hospitals). A massive information, education and communication drive "Aapke Dwar Ayushman" was carried out in 2021 with the support of grass-root resources such as frontline workers, healthcare workers and Panchayati Raj Institutions. This led to the identification and verification of more than 4 crore people under the scheme.

PM-Ayushman Bharat Health Infrastructure Mission (PM-ABHIM)

It is a mission to develop the capacities of primary, secondary, and tertiary care health systems, strengthen existing national institutions, and create new institutions, to cater to detection and cure of new and emerging diseases. It is the largest pan-India scheme for public health infrastructure since 2005.

Pradhan Mantri Swasthya Suraksha Yojana (PMSSY)

The scheme is being implemented to correct regional imbalances in the availability of affordable reliable tertiary healthcare services and to augment facilities for quality medical education in the country. Under PMSSY, construction of 22 new All India Institutes for Medical Science (AIIMS) and 75 Government Medical College up-gradation Projects has been approved and taken up for implementation. Out of this, six (6) AIIMS at Bhopal, Bhubaneswar, Jodhpur, Patna, Raipur and Rishikesh are already fully functional. Another Sixteen (16) AIIMS under various phases have been sanctioned.

Ayushman Bharat Digital Mission (ABDM)

The erstwhile National Digital Health Mission (NDHM), announced on 27th September, 2021 with the aim to develop the backbone necessary to support the integrated digital health infrastructure of the country. It is to bridge the existing gap amongst different stakeholders of the healthcare ecosystem through digital highways. Services like the issue of Health ID, Healthcare Professionals Registry (HPR), Health Facility Registry (HFR) and Health Records (PHR) have been initiated.

e-Sanjeevani

In wake of COVID-19 pandemic, Ministry of Health and Family Welfare upgraded e-Sanjeevani application to enable patient-to-doctor tele-consultation to ensure continuum of care and facilitate health services to all citizens in the confine of their homes free of cost. Telemedicine services have been rolled out in 36 States/UTs. To increase the outreach of health services virtually, e-Sanjeevani OPD application has been integrated with 3.74 lakh Common Service Centres (CSCs) thereby facilitating access to equitable health care in the remotest areas of the country.

Health Outcome Indicators

India has made significant progress in improving its health outcomes over the last two decades by eliminating polio, guinea worm disease, yaws and maternal and neonatal tetanus22. As per latest National Family Health Survey (NFHS)-5, social indicators such as total fertility rate, sex ratio and health outcome indicators viz., infant mortality rate, under-five mortality rate, institutional birth rates have improved over year 2015-16.

NFHS-5 also shows that not only services are reaching to the public but the intended outcomes have also improved. All child nutrition indicators have also improved at all India level. Under Five Mortality Rate (U5MR) has declined from 49.7 in 2015-16 to 41.9 in 2019-21. Infant Mortality Rate (IMR) has declined from 40.7 per 1000 live births in 2015-16 to 35.2 per 1000 live

births in 2019-21. Stunting has declined from 38 percent in 2015-16 to 36 percent in 2019-21. Wasting has also declined from 21 percent in 2015-16 to 19 percent in 2019-21. And, underweight declined from 36 percent in 2015-16 to 32 percent in 2019-21. State wise U5MR, IMR and neonatal mortality rates.

Life Expectancy varies widely across states; ranging from the lowest of 65.2 years in Chhattisgarh to the highest at 75.3 years in Kerala and Delhi. It is higher in urban areas (72.6 years) than in rural areas (68.0 years). Increase from 2013-17 is higher for rural (of 0.3 years) than increase in urban areas (0.2 years). The gap between the rural and urban life expectancy has also narrowed down significantly from 1970-75 to 2014-18. Females are expected to live longer (70.7 years) compared to males (68.2 years). In 2014-18 when compared to 2013-17, females are expected to live longer in most States/UTs both across the rural and urban areas, except for Bihar and Jharkhand

Latest NFHS-5 shows that Total Fertility Rate (TFR) has come down to 2 in 2019-21 from 2.2 in 2015-16. The total fertility rate has even come down below the replacement level of fertility (2.1 children per woman) in the country. Further, in all the States/UTs except for Manipur, Meghalaya, Bihar, Jharkhand and Uttar Pradesh the replacement level of fertility has been achieved. Increasing use of contraceptives especially the modern methods, better family planning, and girl education possibly have contributed to the decline in the fertility rates. Use of family planning methods has increased from 53.5 percent in 2015-16 to 66.7 percent in 2019-21. Access to better health infrastructure could be another factor. Significant improvement is seen in the infrastructure and services reaching to the public, such as institutional delivery. Institutional delivery has increased to 88.6 percent in 2019-21 compared to 78.9 percent in 2015-16

Table I: Progress on Social and Health Indicators

Particulars	NFHS I (1992-1993)	NFHS II (1998-1999)	NFHS III (2005-2006)	NFHS IV (2015-2016)	NFHS V (2019-2021)
Total Fertility Rate (Children per Women)	3.4	2.9	2.7	2.2	2
Sex ratio at birth for children born in the last five years (females per 1,000 males)	-	-	914	919	922
Infant Mortality Rate (per 1000 livebirths)	78.5	67.6	57	40.7	35.2
Under-five Mortality Rate (per 1000 livebirths)	109.3	94.9	74.3	49.7	41.9
Institutional Birth (%)	26.1	33.6	40.8	78.9	88.6
Pregnant women age 15 -49 who are anaemic (%)	-	51.8	57.9	50.4	52.2
Population living in households that use an improved sanitation facility (%)	.-	17.6	29.1	48.5	70.2
Households using clean fuel for cooking (%)	-	-	25.6	43.8	58.6

Source: Economic Survey 2020-21, p.378

Sex ratio, number of females per 1000 males, in the total population has risen from 991 females in 2015-16 (NFHS-4) to 1020 in 2019-21 (NFHS-5). More importantly, sex ratio at birth, female children per 1000 male children born in the last five years, has grown from 919 in 2015-16 to 929 in 2019-21. To prevent gender biased sex selective elimination, to ensure survival and protection of the girl child, and to ensure education and participation of the girl child, government has made specific interventions through Beti Bachao Beti Padhao (BBBP) Scheme. Sex ratio at birth for children born in the last five years has improved in 2019-21 from 2015-16 in all states (Table 13), except for Himachal Pradesh, Bihar, Jharkhand, Chhattisgarh, Odisha, Maharashtra, Tamil Nadu, Kerala, Meghalaya, Goa and Nagaland

Swachh Bharat Mission (Grameen)

Since inception till 28.12.2021, more than 10.86 crore toilets have been built in rural India. Open Defecation Free (ODF) Plus under Phase II of SBM(G) is being implemented from 2020-21 to 2024-25 with a goal of making all the villages Open Defecation Free (ODF) through convergence between different verticals of financing and various schemes of Central and State Governments. Focus of phase II with a total outlay of Rs 1,40,881 crores is ODF sustainability and Solid & Liquid Waste Management. During 2021-22 (as on 25.10.2021) a total of 7.16 lakh Individual household latrines for new emerging households and 19,061 Community Sanitary Complexes have been constructed. Also, 2,194 villages have been declared as ODF Plus.

As per the recently released findings of the fifth round of the National Family Health Survey, 2019-21 (NFHS-5), population living in households that use an improved sanitation facility has increased from 48.5 percent in 2015-16 to 70.2 percent in 2019-21. The proportion of population living in households using an improved sanitation facility hasincreased in 2019-21 compared to 2015-16 (**Table II)**, in all states except Sikkim. Despite significant improvement, the use of improved sanitation facilities in states such as Bihar (49 percent), Jharkhand (57 percent), Odisha (60 percent), Manipur (65 percent), Madhya Pradesh (65 percent), West Bengal (68 percent), Assam (69 percent) and Uttar Pradesh (69 percent) have remained below the national average of 70 percent in 2019-21.

Electricity and Clean Cooking Fuel

Government has made efforts to increase access to clean fuel for cooking through the Pradhan Mantri Ujjwala Yojana (PMUY). As per NFHS-5, 58.6 percent of households were using clean fuel for cooking in 2019-21, a significant increase from 43.8 percent in 2015-16. Proportion of household using clean fuel for cooking, however, varies across states (Table II), where Chhattisgarh, Odisha, Jharkhand, Bihar, Uttar Pradesh, Rajasthan, Madhya Pradesh, Assam, West Bengal, Tripura, Nagaland, Arunachal Pradesh, Himachal Pradesh, and Meghalaya were below the national average of 58.6 percent in 2019-21. Government has made efforts through schemes such as SAUBHAGYAYojana to ensure 'Power for all.'As per latest NFHS, households with electricity have increased from 88 percent in 2015-16 to 96.8 percent in 2019-21.

Table II: Proportion of Households using sanitation facility and clean fuel for cooking (%)

States	Population in households having improved sanitation facility (%)		Households using clean fuel for cooking (%)	
	NFHS-4 (2015 - 16)	NFHS-5 (2019 - 21)	NFHS-4 (2015 - 16)	NFHS-5 (2019 - 21)
All India	48.5	70.2	43.8	58.6
Andhra Pradesh	77.3	54.4	83.6	62.0
Arunachal Pradesh	82.9	61.6	53.2	45.0
Karnataka	74.8	57.8	79.7	54.7
Maharashtra	72.0	52.3	79.7	59.9
Rajasthan	71.1	46.1	41.4	31.8
Tamil Nadu	72.6	52.5	82.9	73.0
UttarPradesh	68.8	36.4	49.5	32.7
West Bengal	68.0	52.8	40.2	27.8
Jharkhand	56.7	25.0	31.9	18.9

Source: Economic Survey 2020-21, pp.381-382

ISSN : 0975-5403

Conclusions

The government has made several provisions to reduce OOPE and burden of diseases through Universal Health coverage- Ayushman Bharat. Similarly, to increase affordability of healthcare the potential of AYUSH through National Ayush Mission (NAM) in reducing health expenses is immense.India has made significant progress in improving its health outcomes over the last two decades by eliminating polio, guinea worm disease, yaws and maternal and neonatal tetanus22. As per latest National Family Health Survey (NFHS)-5, social indicators such as total fertility rate, sex ratio and health outcome indicators viz., infant mortality rate, under-five mortality rate, institutional birth rates have improved over year 2015-16.The proportion of population living in households that use an improved sanitation facility has increased from 48.5 percent in 2015-16 to 70.2 percent in 2019-2. As per NFHS-5, government efforts has resulted in 58.6 percent of households using clean fuel for cooking in 2019-21, a significant increase from 43.8 percent in 2015-16. Thehouseholds with electricity have increased from 88 percent in 2015-16 to 96.8 percent in 2019-21. The progress in ODF villages has improved child health indicators through containment of malaria, diarrhoea especially in under-five children, still births and new born with weight less than 2.5 kg. This improved child health particularly in areas where coverage was weaker in 2015.The public health services in rural areas require better governance mechanisms through adoption of technologies, local self-government and community participation.

References

Economic Survey 2021-22 available at https://indiabuget.gov.in

Economic Survey 2020-21 Vol. I available at https://indiabudget.nic.in

Economic Survey 2020-21 Vol. II available at https://indiabudget.nic.in

Economic Survey 2019-20 Vol. I available at https://indiabudget.nic.in

Economic Survey 2019-20 Vol. II available at https://indiabudget.nic.in

National family Health Survey (NFHS-5) Report available at https://rchiips.org

■ ■ ■

 ISSN : 0975-5403

विकलांग विमर्श और हिन्दी उपन्यास

कुमारी पूनम चौहान
सहायक प्रोफेसर
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
समरहिल, शिमला

विकलांग व्यक्ति घृणा का पात्र नहीं आदर एवं सम्मान का पात्र है। शरीर चाहे विकलांग क्यों न हो परन्तु अपनी क्षमताओं को जानकर व्यक्ति, समाज और अपने कल्याण के लिए कार्य प्रवृत्त हो सकता है। किसी की विकलांगता मानसिक रूप की होती है तो किसी की शारीरिक। विकलांग शब्द दो शब्दों के मेल से 'विकल' और 'अंग' से बना है। बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार विकलांगता का शाब्दिक अर्थ, '''बेकार या खण्डित अंगों वाला' अर्थात् लंगड़ा–लूला, अंगहीन, न्यूनांग है।''[1] अतः कहा जा सकता है कि किसी एक या एकाधिक अंगों का विकल होना विकलांगता है। विकलांग व्यक्ति को समाज में अपनी विकलांगता के कारण अनेक यातनाओं को सहन करना पड़ता है परन्तु आधुनिक समय में तकनीकी एवं विज्ञान के विकास के कारण विकलांग व्यक्ति के लिए नई–नई तकनीकों के माध्यम से चिकित्सा के क्षेत्र में उनका इलाज होता रहा है तथा तकनीक के द्वारा ही नए–नए उपकरण उन्हें प्रदान किए जाते हैं। इन उपकरणों के माध्यम से उनके शरीर की कमी को दूर करने का प्रयास किया जाता है तथा उन्हें आत्मनिर्भर बनने के लिए भी प्रेरित किया जाता है। विकलांग व्यक्ति समाज से प्रेम की आशा रखता है, वह समाज से सहानुभूति नहीं चाहता। सरकार के द्वारा भी उन्हें पेंशन तथा अनेक योजनाओं के माध्यम से लाभ होता है किन्तु आज भी विकलांग व्यक्ति को केवल 5 प्रतिशत आरक्षण दिया जाता है जो कि बहुत कम है। आज भी विकलांग व्यक्ति आरक्षण की कमी के कारण बेरोजगार हैं तथा परिवार के सदस्य पर निर्भर रहता है। परिवार के सदस्य भी उसे बोझ समझने लगते हैं यदि वह घर पर बैठा हो। इसलिए सरकार का कर्त्तव्य है वह इस वर्ग के लोगों को आत्मनिर्भर बनाएं ताकि इस वर्ग के लोग अपने आप को समाज के अन्य व्यक्तियों से हीन न समझें। विकलांग विमर्श विकलांग व्यक्तियों के जीवन में आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रेरित करता है। दामोदर मोरे के अनुसार, ''कुदरत की दी हुई शारीरिक, मानसिक दुर्बलता, न्यूनता या विरूपता की विकलांगता है। यह विकलांग दुःख की जननी है लेकिन इस सत्य को न स्वीकारते हुए उससे दूर भागना या डरना कायरता है। उसका डटकर सामना करना ही पुरुशार्थ है। शरीर भले ही विकालांग हो, मन विकलांग नहीं होना चाहिए क्योंकि मन तो ऊर्जा का केन्द्र है। जो व्यक्ति, संस्था या समाज विकलांगों के अतिस्तत्व की रक्षा व उनकी उन्नति के लिए काम करता है, वह मानवता का सच्चा मित्र है, उसका प्रहरी है।''[2] अतः कहा जा सकता है कि विकलांग विमर्श में विकलांगों के प्रति सहानुभूति नहीं बल्कि समानुभूति की अपेक्षा की जाती है।

साहित्यकार समाज से जुड़ी समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाता है ताकि उसकी लेखनी के काल्पनिक पात्रों के माध्यम से समाज को एक नई दिशा मिले। हिन्दी साहित्य में उपन्यासकारों ने विकलांग विमर्श में भी अपनी लेखनी चलाई। चाहे वह उपन्यासकार सम्राट प्रेमचंद हो उन्होंने अपने 'रंगभूमि' उपन्यास में 'सूरदास' जहां विकलांग चरित्र को प्रथम बार प्रतिष्ठित किया है। लेखिका शिवानी के 'कृष्णवेणी' उपन्यास में 'भास्करन' कुष्ठरोग से विकलांग होता है। आंचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु आंचलिक उपन्यासकार होते हुए भी उन्होंने अपने उपन्यास 'मैला आंचल' तथा 'कितने चौराहें' में पात्रों के माध्यम से विकलांग व्यक्तियों की स्थिति का चित्रण किया है। अमृतलाल नागर के 'खंजन नयन' उपन्यास में 'सूरदास' पात्र के माध्यम से विकलांग विमर्श की दृष्टि से उल्लेखनीय प्रतीत होता है। नारी–अस्मिता के लिए समर्पित लेखिका, समाजसेवी व चिंतक श्रीमती मृदुला सिन्हा का उपन्यास 'ज्यों मेहँदी को रंग' विकलांगता पर आधारित न केवल प्रथम एक समग्र उपन्यास है बल्कि लेखिका ने अपने विकलांग पुत्र परिमल के साथ भोगे हुए दिन का यथार्थ चित्रण अपने इस उपन्यास में किया है। उपन्यास की नायिका शालिनी विकलांगता के कारण अनेक कष्टों का सामना करती है जिसका चित्रण लेखिका ने बखूबी से किया है। प्रवासी साहित्यकार अभिमन्यु अनतः शबनम कृत उपन्यास 'गांधी जी बोले थे' में 'मदन' जन्म से नहीं बल्कि दुर्घटना के कारण विकलांग होता है तथा विकलांग होने के बावजूद वह अपने मजदूर संघर्ष को आगे बढ़ाता है। मृदुला गर्ग द्वारा रचित 'अनित्य' उपन्यास में काजल और श्यामा दो विकलांग चरित्र है। लेखिका मृदुला गर्ग ने 'आवाँ' उपन्यास में 'देवीशंकर पाण्डे' के माध्यम से लकवाग्रस्त विकलांग व्यक्ति की मनोस्थिति का चित्रण किया है। वाल्मीकि

त्रिपाठी कृत 'विकलांग' ऐतिहासिक उपन्यास चितौड़गढ़ के नरेश महाराणा संग्राम सिंह के अद्‌भुत पराक्रम और कौशल का वर्णन किया है जो विकलांग होने के बावजूद वीरयोद्धा थे। राजेन्द्र कुमार रस्तोगी का उपन्यास 'अंधे की आँख' उपन्यास में चन्दन भी जन्म से विकलांग नहीं होता बल्कि कार दुर्घटनाग्रस्त में अपनी आँखे गवां देता है। लेखक ने उपन्यास में चन्दन के माध्यम से विकलांग व्यक्ति के जीवन पर प्रकाश डाला है। प्रदीप सौरभ के 'ब्लाइंड स्ट्रीट' उपन्यास में भी विकलांग को अभिव्यक्त किया गया है।

हिन्दी उपन्यासकार सम्राट प्रेमचंद भी इस विषय से अछूते नहीं रहे। उनके रंगभूमि उपन्यास का नायक सूरदास जन्म से ही विकलांग है। सूरदास अंधा व्यक्ति भीख मांगता था। सूरदास स्वाभिमानी व्यक्ति होता है तथा भिखारी बनना उसकी लाचारी होती है। वह कहता है, ''भगवान् की चाकरी करता हूँ, किसी दूसरे की ताबेदारी नहीं हो सकती।''[3] अतः कहा जा सकता है कि भले ही धन के अभाव के कारण सूरदास भीख मांगता है परन्तु वह इस काम को कम नहीं समझता क्योंकि वह 'दे उसका भी भला और न दे उसका भी भला' सिद्धांत का संवाहक वह सच्चे अर्थों में मानवता का सबल सार्थक है।

लेखिका शिवानी ने अपने उपन्यास 'कृष्णवेणी' में विकलांग प्रेमी के कारण कृष्णवेणी के जीवन में क्या दुष्प्रभाव पड़ता है उसका मार्मिक चित्रण किया है। कृष्णवेणी भास्करन से प्रेम करती है जिसे कि कुष्ठरोग हो जाता है परन्तु वह फिर भी उससे विवाह करने पर अडिग रहती है। कृष्णवेणी के पिता इस विवाह को अस्वीकार करते हैं अन्ततः वह आत्महत्या करके अपनी जीवनलीला समाप्त करती। लेखिका ने भास्करन के विकलांगता को इस प्रकार स्पष्ट किया है, ''उसके दोनों हाथों की अंगुलियाँ झड़कर दो अधूरी मुट्ठियाँ मात्र रह गयी हैं। होंठ–विहीन उसका चेहरा वीभत्स बन गया है, जैसे कटहल का छिलका नाक नहीं है– पलकहीन अंगारे–सी दो आँखें ही बस दप–दप जल रही हैं, पूरे चेहरे में।''[4]

अमृतलाल नागर के उपन्यास 'खंजन नयन' में लेखक ने विकलांग व्यक्ति की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। उपन्यास के नायक सूरदास को अपनी विकलांगता के कारण घर और बाहर दोनों स्थलों पर संघर्ष करना पड़ता है। समाज में व्यक्तियों ने उनकी विकलांगता की हंसी उड़ाई, उलाहने दिये लेकिन सूरदास को कभी भी अपनी विकलांगता पर दुःख नहीं हुआ अपितु यथोचित उत्तर देते रहे और आगे बढ़ते रहे– अरे मूढ़! तू क्या जाने सोने की सुन्दरता, हीरे मोतियों की जगमगाहट। तू तो अंधा है, जन्म का अंधा।''[5] अतः उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास के अंधेपन का मजाक उड़ाया जाता है किन्तु सूरदास हतोत्साहित नहीं होते बल्कि व्यंग्यपूर्ण उत्तर देते हुए कहते हैं, ''आँखें न सही, कान तो है। सुनी हुई बातों को अंधा बखान कर सकता है।''[6] स्पष्टतः विकलांग व्यक्ति को आशावादी होना चाहिए उसे अपनी शारीरिक कमी के कारण स्वयं को हीन नहीं समझना चाहिए। यदि वह स्वयं को हीन समझेगा वह समाज के व्यंग्य को सहन नहीं कर पाएगा तथा जिसके दुष्प्रभाव से मानसिक तनाव में उसका जीवन व्यतीत होगा। विकलांग विमर्श में विकलांग व्यक्ति को जीवन के प्रति आशावान करता है।

व्यक्ति विकलांग यदि जन्म से हो तो वह बचपन से ही मानसिक रूप से अपने शरीर की कमी को स्वीकार कर लेता है परन्तु यदि व्यक्ति दुर्घटना ग्रस्त होकर विकलांग बन जाता है तो उसका जीवन नरकतुल्य बन जाता है तथा वह मानसिक तनाव तथा कुंठा में अपने जीवन के पुराने समय को स्मरण करके हताश होता है। मृदुला सिन्हा के उपन्यास 'ज्यों मेहँदी को रंग' उपन्यास की शालिनी भी जन्म से विकलांग नहीं होती बल्कि दुर्घटना के कारण विकलांग बन जाती है। वह महिमा से कहती है, ''देख महिमा! कितने सुन्दर, कितने नाजुक हैं ये पाँव। केवल गति नहीं है न इनमें इतना ही तो अन्तर है। उनमें गति थी। वे चलते रहते थे, भागते ही रहते थे।''[7] अतः अपनी दशा के कारण शालिनी हताश होती है। दुर्घटना में व्यक्ति जब अपने शरीर का अंग खोता है तो उसे अन्य व्यक्तियों से अभिप्रेरणा तथा प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है ताकि वे अपना खोया हुआ आत्मबल फिर से पा सकें। इसी उपन्यास में महिमा भी शालिनी को फिर से चलने के लिए प्रोत्साहित करती है। वह उससे कहती है, ''ये भी चलेंगे शालू! तू चलाएगी तब तो। वे पाँव भी तो तुम्हारी इच्छा के अनुसार ही घूमते थे। ये भी घूमेंगे, नाचेंगे, दौड़ेंगे। पहले तुम तो......।''[8] अतः कहा जा सकता है कि समाज में विकलांग व्यक्ति को दया की आवश्यकता नहीं होती बल्कि उन्हें प्रोत्साहन करना चाहिए।

विकलांग विमर्श में विकलांग की मनोदशा को अंकित किया है। विकलांग व्यक्ति को अपने परिवार तथा समाज से प्रेम तथा सहारे की आवश्यकता होती है परन्तु यदि उन्हें अपने परिवार के सदस्यों का भी सहयोग नहीं मिलता तो वे मानसिक तनाव से गुजरते हैं तथा आत्महत्या का प्रयास करते हैं। मृदुला सिन्हा के 'ज्यों मेहँदी को रंग' उपन्यास में यूनूस मियाँ दो वर्षों से अधकटे पाँव के कारण उनकी पत्नी उन्हें छोड़कर अपने बच्चे को साथ लेकर चली गई। इससे यूनूस मियाँ अत्यधिक आहत होते हैं तथा

 ISSN : 0975-5403

आत्महत्या का प्रयास करते हैं। वह कहते हैं, ''क्या मुसीबत है! विकलांगों के लिए जीने के अनेक रास्ते बंद हो जाते हैं तो भला मरने के क्यों खुले रहे? अपाहिजों के लिए मर–गुजरना भी कितना कठिन होता है।''[9] उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि अपाहिज व्यक्ति को मृत्यु को पाना भी कठिन होता है परन्तु विकलांग विमर्श आत्महत्या की ओर अग्रसर हो रहे अपाहिज व्यक्तियों को जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विकलांग व्यक्ति को न दया भाव चाहिए और न झूठी महानता। उसे मानवता की दृष्टि चाहिए। समाज में उसे एक मानव के रूप में पहचाना जाना चाहिए। समाज में उसे दया तथा करूणा की दृष्टि से न देखा जाए बल्कि सम्पूर्ण मानव समझा जाए। उसके लिए आवश्यक है कि समाज और सरकार की मानसिकता में परिवर्तन हो और साथ में विकलांग व्यक्ति की मानसिकता में भी परिवर्तन हो। उस समाज के अन्य व्यक्ति की भांति सभी मानवीय अधिकार प्राप्त हो और प्रतिष्ठा भी। विकलांग विमर्श का मूल उद्देश्य भी यही है।

संदर्भ

1 कलिका प्रसाद, बृहत् हिन्दी कोश, पृ० 1035

2 डॉ. विनय कुमार पाठक (सम्पादक), द्रष्टव्य–विकलांग–विमर्श, पृ० 18

3 प्रेमचंद, रंगभूमि, पृ० 9

4 शिवानी, कृष्णवेणी, पृ० 100

5 अमृतराय, खंजन नयन, पृ० 29

6 वही, प ० 47

7 मृदुला सिन्हा, ज्यों मेहँदी को रंग, पृ० 9

8 वही, पृ० 9

9 वही, पृ० 36

■ ■ ■

असंगत नाटक : परम्परा और विकास

डॉ. रमेश प्रताप सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर ,हिन्दी विभाग
श्री जे० एन० पी० जी० कॉलेज, लखनऊ,उत्तर प्रदेश

साहित्य का जीवन से सीधा संबंध होता है। जीवन की आशा –निराशा और आकांक्षा का संबंध भी इससे जुड़ा होता है। समाज में घट रही घटनाएं साहित्य में स्पष्ट प्रतिबिंबित होती हैं। साहित्यकार का दायित्व होता है कि वह जीवन मूल्यों की स्थापना करे और एक श्रेष्ठ मानव मूल्य का उदाहरण अपने साहित्य के माध्यम से पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करे। देशकाल परिस्थितियों में अनवरत बदलाव देखा जाता है जो प्रकृति का नियम भी है। साहित्य में भी समय–समय पर बदलाव होते रहते हैं। वैदिक संस्कृत से लेकर अब तक बदलते साहित्य इसके प्रमाण हैं। असंगत नाटक इसी बदलाव की एक कड़ी है जो दो विश्व युद्धों की विभीषिका और नये मानव मूल्यों की स्थापना का प्रतिफल है। असंगत नाटक जीवन को देखने जानने परखने का एक विशेष दृष्टिकोण है और जीवन के नए मूल्य भी प्रस्तुत करता है। यह नाटक पाश्चात्य नाट्य संबंधी गतिविधियों के प्रभाव का प्रतिफलन है। विश्व पटल पर बीसवीं सदी का प्रारम्भ कई मायनों में महत्त्वपूर्ण रहा। औपनिवेशिकवाद चरम पर था विश्व, युद्ध की विभीषिका की ओर बढ़ रहा था जिसका परिणाम प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में सामने आया। भारत भी अपने अस्तित्व की लड़ाई धारदार तरीके से प्रारम्भ कर चुका था। गांधी जी जहां शांति और अहिंसा के मार्ग पर चलकर देश की स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ रहे थे वही सुभाष चंद्र बोस, भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद जैसे अनेक क्रांतिकारी स्वतंत्रता सेनानी अपने देश के लिए जान की बाजी लगा रहे थे। भारत ही नहीं विश्व के अनेक देश औपनिवेशिकता के विरुद्ध पूरी ताकत से लड़ रहे थे। इन्ही संघर्षों के बीच प्रथम एवम् द्वितीय विश्व युद्ध जैसी विभीषिका से संपूर्ण विश्व गुजरा। द्वितीय विश्व युद्ध तक आते–आते विश्व पटल पर सामूहिक विघटन, मोहभंग, कुंठा, संत्रास और मानव मूल्यों के खण्डित होने की अवधारणाएं स्पष्ट नजर आने लगी। फ्रांस की राज्य और औद्योगिक क्रांति ने जहां विश्व को विज्ञान के माध्यम से एक नवीन दिशा दी वही इसी विज्ञान से मानव समाज एवम् मानव संस्कृति के विनाश का मार्ग भी प्रशस्त किया। द्वितीय विश्व युद्ध की क्रूरता एवम् कुरूपता ने ऐसा भद्दा चेहरा पेश किया कि यथार्थ मिथ्या लगने लगा। डॉ. विपिन कुमार अग्रवाल लिखते हैं जो अकल्पनीय भयंकरता युद्ध ने दिखाई थी उसका चेहरा इतना भद्दा और कुरूप था कि जीवन का सामान्य यथार्थ उसके सामने झूठा पड़ गया। इसीलिए इस युग के कलाकारों ने प्रतीत यथार्थ को तोड़कर जीवन की इस कुरूपता और आंतरिक विसंगति को संप्रेषित करने की चेष्टा की। प्रतीत यथार्थ को तोड़ने की इस प्रक्रिया में इस युग के कलाकारों को स्वीकृत काव्य रूपों का भी खंडन करके नए अभिव्यक्ति माध्यमों की खोज करनी पड़ी। हमारे जीवन में घटनाएं किसी कथानक के अनुसार नहीं घटती।[1] संभवतः इन्ही कारणों से स्वीकृत नाट्य परम्परा (कथा और चरित्र के माध्यम से प्रचलित नाटक)को अस्वीकार करना पड़ा और नाटक कथा और नायक विहीन हो गए। असंगत नाटककारों को इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा कि अब परंपरागत नाटकों के माध्यम से यथार्थ को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अब समय आ गया है कि हम पाठक को यथार्थ से रुबरू कराये ना की सुखांत से,सब कुछ परोसने (कथा, चरित्र, अभिनय, देशकाल, उद्देश्य) के स्थान पर इन नाटककारों ने उद्देश्य को ही प्राथमिकता दी।

असंगत शब्द का प्रयोग – यह शब्द अंग्रेजी के 'एब्सर्ड'(ABSURD) का पर्यायवाची है। जो पाश्चात्य प्रभाव के कारण हिन्दी में आया। बृहत अंग्रेजी कोश में एब्सर्ड को –असंगत, विसंगत,अनर्थक, अर्थहीन, अनुचित अयुक्त के रूप में माना गया है।[2] मानक हिन्दी कोश ने भी एब्सर्ड को–अनर्थक, अयुक्त, असंगत, न्यायविरुद्ध, उटपटांग, तर्कहीन, मूर्खतापूर्ण, हास्यास्पद, वाहियात, लचर,बेतुका के रूप में व्याख्यायित किया गया है।[3] मानक हिन्दी कोश के प्रथम खण्ड में असंगत शब्द को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है –

1–जिसकी किसी से संगति या मेल न बैठता हो।

2–जो प्रस्तुत विषय के विचार से उपयुक्त अथवा समाचीन न हो।[4]

डॉ0 गोविंद चातक के शब्दों में –"असंगत अथवा एब्सर्ड का अर्थ होता है विषम स्वर होना, सामंजस्यहीन, अतार्किक, असंबद्ध, उल जलूल और हास्यास्पद होना।[5]

एब्सर्ड नाटक की पाश्चात्य परंपरा– एब्सर्ड शब्द

का सर्वप्रथम प्रयोग मार्टिन एसलिन ने किया। उन्होंने इसके दार्शनिक पक्ष पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए नाटक के सन्दर्भ में सन् 1961 में इस शब्द का प्रयोग पहली बार किया।[6] द पेंगुइन डिक्शनरी आफ थियेटर' 1966 में जान रसेल टेलर का मत है कि सन् 1950 के बाद उन नाटककारों का समूह जो अपने को किसी खास स्कूल का नहीं मानते हैं और विचार ,चिंतन, विषय और फार्म की दृष्टि से नाटक में बदलाव चाहते हैं,एब्सर्ड नाटककार हैं।[7] असंगत नाटककार आयनेस्को ने असंगत नाटक पर अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है कि असंगत उद्देश्य हीनता है।"ABSURD IS THAT WHICH IS DEVOID OF PURPOSE"[8] एब्सर्ड थियेटर को विकसित करने वाले मुख्य रचनाकारों में इब्सन, बेकेट, ब्रेख्त, यूजीन, आयनेस्को, ज्यों जेने, सार्त्र, एडवर्ड आलवी, हैराल्ड पीटर आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटककारों ने परम्परा से चली आ रही नाट्य अवधारणा एवं विषय–शिल्प को एक सिरे से नकार दिया और असंगत नाट्य मंच में एक नया प्रयोग किया। इन नाटककारों के मूल उद्देश्य में अभिशप्त मानव है जिसकी आस्थाएं टूट चुकी हैं, जिन्दगी एक नकार से प्रारम्भ होकर दूसरे नकार पर दम तोड़ देती है,समस्त मानवीय मूल्य निरर्थक और बेतरतीब नजर आने लगते हैं, ऐसे में कला के प्रति सकारात्मकता का भाव कब तक टिका रहेगा। एब्सर्ड नाटककारों ने विवश होकर नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया। डॉ.सुषमा बेदी के शब्दों में– "इन नाटककारों में भी सारे मानवीय सम्बन्ध,जीवन स्थितियां निरर्थक बेतुके होकर अभिव्यक्त हुए हैं। इन्होंने सारी स्थितियों को'पैरोडी'या 'आयरनीश्के माध्यम से उभारा है। ऐसे में उसे नाम की भी जरूरत नहीं होती। वह 'आदमी', और तश या क,ख,ग कुछ भी हो सकता है।"[9]

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों से एब्सर्ड नाटक का जन्म हुआ। इसके प्रमुख नाटककारों में– सैमुअल बैकेट, यूजीन आयनेस्को, इब्सन, ज्यों जेने, सार्त्र, एडवर्ड आलवी,हैरोल्ड पीटर आदि प्रमुख हैं।

सैमुअल बैकेट– एब्सर्ड नाट्य परंपरा में बैकेट द्वारा रचित'वेटिंग फॉर गोदो' सबसे महत्त्वपूर्ण नाटक है। इस नाटक को 1969 में नोवेल पुरस्कार भी मिला है। यह नाटक मंचन की दृष्टि में एक सफल नाटक रहा है। बैकेट के इस नाटक का प्रभाव उस युग के लगभग सभी एब्सर्ड नाटक एवं नाटककारों पर पड़ा। इस नाटक में मुख्य दो पात्र ब्लादिमीर और एस्ट्रागन और एक काल्पनिक पात्र गोडोट है। इसमें कथावस्तु जैसी कोई चीज नहीं है। एक वृक्ष के नीचे दो भटकते राही गोडोट की प्रतीक्षा करते करते हैं जो निष्फल और अंतहीन है। इन राहगीरों को ऐसा लगता है कि गोडेट ही गाड (भगवान) है। इस प्रकार प्रतीक्षा के दौरान वे ऊल–जलूल हरकते करते हैं जैसे– वाद–विवाद करना, खेलना, व्यायाम करना, आपस में हैट बार– बार बदलना और यहां तक की पेड़ से लटककर आत्म हत्या तक कर लेने का विचार बना डालते हैं। यह सिर्फ इसलिए की भयानक सन्नाटे को कैसे दूर किया जाए। इस नाटक को पढ़ने के उपरान्त ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान सन्दर्भ में मानव के अस्तित्त्व का खतरा बढ़ चुका है आज अस्तित्व बचाना सबसे बड़ी चुनौती है। बैकेट का एक और महत्त्वपूर्ण एब्सर्ड नाटक है 'आखिरी खेल'। इसमें केवल चार पात्र हैं। हैम, क्लोव, मेग और नेल। लकवा के कारण हैम चल फिर नहीं सकता है और नेत्रहीन भी है। नेल और नेग वृद्ध हैं। उनका नौकर क्लोव कर्तव्यनिष्ठ और आज्ञाकारी है। हैम एक सफल कहानीकार बनना चाहता है पर उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हो पाती। हैम का मानना है कि जीवन में सदैव आगे बढ़ते रहना चाहिए। कभीदृकभी जीवन में हार भी होती है। हैम आराम कुर्सी पर बैठ कर इन्हीं विचारों में खो जाता है। इस नाटक में हैम सांसारिक विषय भोग से अतृप्तमन का प्रतीक है और क्लोव बुद्धि का।[10]

यूजीन आयनेस्को– 'रियलिटी इन डेथ' इनका प्रमुख एब्सर्ड नाटक है जिसमें आयनेस्को ने वर्तमान समाज और विचारों पर तीखा व्यंग किया है। आयनेस्कों का मानना है कि – " खामोशी ही जीवन्त यथार्थ है। उसे लच्छेदार भाषा में ढक देना एक जुर्म है। उन्होंने अपनी कृतियों के माध्यम से व्यक्ति और परिवार, परिवार और समाज के बीच रहने वाले स्थाई विचारों पर भी करारा व्यंग किया है।'द लैसन' भी आयनेस्कों का महत्त्वपूर्ण एब्सर्ड नाटक है जिसमें उन्होंने अध्यापक के क्रूर अधिकार भावना और विद्यार्थी की न सोच सकने वाली दयनीयता पर कुठाराघात किया है। उनका मानना है कि दिन–ब–दिन भाषा में बदलाव के कारण वह अरुचिकर और कठिन होती जा रही है।[11] इसके अतिरिक्त 'द चेयर्स' नाटक में आयनेस्कों ने वृद्ध दंपत्ति के मधुर स्मृतियों को उभारने का प्रयास किया है जबकि' रायनो सेरोस' नाटक का नायक बेरेंजर एक ऐसी दुनिया में फंस गया जहां हर व्यक्ति एक 'गैडा' है। यह नाटक नाजीवादी प्रवृति पर तीखा व्यंग करता है।[12]

एडवर्ड आलवी–आलवी ने 'हूज अफ्रेड आफ वर्जीनिया वुल्फ' द अमेरिका, द न्यू स्टोरी जैसे महत्त्वपूर्ण नाटक लिखे। इन नाटकों में समसामयिक समाज से खिन्नता, जड़ता और नैतिक मानवीय मूल्यों के विघटन को बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से रेखांकित किया गया है। विश्व युद्ध

के दौरान युद्ध में पिकनिक मना रहे सिपाहियों का वर्णन है जो विश्व की बड़ी शक्तियों पर करारा व्यंग है। सिपाही युद्ध और विध्वंश नहीं चाहते वह सुख शांति से जीवन जीना चाहते हैं,उन्हें आंनद चाहिए, विध्वंश नहीं, वे अपनों के बीच रहना चाहते हैं। उदाहरणार्थ–

तेपान– अच्छा यह ठीक है, तो क्यों न लड़ाई बंद कर दी जाए ।

जापो– यह कैसे संभव है ?

तेपान– सब कुछ संभव हो सकता है। तुम अपने लोगों से जाकर कह दो कि दुश्मन के सिपाही अब लड़ना नहीं चाहते और तुम भी यही मत अपने साथियों से कह देना। बस छुट्टी,सब अपने अपने घर लौट जायेंगे

जेपो–वाह मजा आ गया।[13]

हैराल्ड पीटर–पीटर ने दो महत्त्वपूर्ण नाटक लिखे–' द बर्थ डे पार्टी' एवं 'केयर टेकर' इन नाटकों के माध्यम से उन्होंने सामाजिक समस्याओं को उतनी महत्ता नहीं दी जितनी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक समस्याओं को ।

हिन्दी में असंगत नाटक की परम्परा–हिन्दी नाट्य परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है। नाटकों का प्रचलन कब हुआ इसका प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है। आचार्य भरतमुनि (ईस्वी पूर्व 300) ने अपने 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ में नाटक के विभिन्न पक्षों का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक विवेचन करते हुए उसे चाक्षुष यज्ञ कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि भरतमुनि से पूर्व यह परम्परा समृद्ध रही होगी। तभी उनको नाटक के विभिन्न पक्षों पर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। संस्कृत साहित्य में नाटक की परम्परा अश्वघोष से प्रारम्भ होती है जो कालिदास, भवभूति आदि से होती हुई हिन्दी तक पहुँचती है। हिन्दी में मध्यकाल में पद्यात्मक नाटक लिखे गये। नाट्य लेखन की दृष्टि से यह युग बहुत समृद्ध नहीं रहा। वस्तुतः हिन्दी नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ किन्तु इस युग में लिखे हुए नाटक भारतीय नाट्य शिल्प से विशेष प्रभावित रहेद्य उत्तर भारतेन्दु युग में नाटक हिन्दी साहित्य की एक सशक्त विधा बन गया और उसमे वस्तु ,शैली और शिल्प की दृष्टि से तरह –तरह के बदलाव हुए और तरह तरह की पद्यतियों का जन्म हुआ। असंगत नाटक इसी बदलाव और पद्धति की परिणति है। इस नई पद्धति के नये नाटककार के रूप में भुवनेश्वर का नाम लिया जाता है। भुवनेश्वर ने 1938 में 'ऊसर' और 1948 में 'तांबे के कीड़े' नाटक लिखे जिसे पाश्चात्य साहित्य में 'एब्सर्ड' नाटक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। दुर्भाग्य का विषय है कि भुवनेश्वर के नये प्रयोग के नाटकों का हिंदी साहित्य आलोचना में जमकर खिल्ली उड़ाई गई किन्तु जब 1952 में सैमुएल बैकेट ने 'वेटिंग फार गोदो' लिखा ,तब हिन्दी लेखकों विशेषकर नाटककारों का रुझान भी असंगत नाटकों के कथ्य और शिल्प की ओर बढ़ा। यह हमारी विकृत और औपनिवेशिक (गुलामी) मानसिकता को दर्शाता है। हम आदी हो चुके थे गुलामी के,नकल के। यह हमारे लिए गर्व का विषय है कि साहित्य की यह इकलौती विधा है जिसका जन्म या सृजन भुवनेश्वर ने किया। असंगत नाटक मूलतः विश्व युद्ध की विभीषिका ,नरसंघार ,अमानवीयता और गिरते मानवीय मूल्यों का दर्पण है। जिसे उसी की भाषा में नाटककार दर्शक के सामने पेश कर देता है जैसा भुवनेश्वर ने ताँबे के कीड़े के माध्यम से किया है। विस्तार की दृष्टि से देखा जाये तो हिन्दी में असंगत नाटक का विकास छठे दशक में ही दिखाई पड़ता है। द्वितीय विश्व युद्ध का प्रभाव जितना विश्व के अन्य देशो पर पड़ा उतना ही भारत पर भी पड़ा। पूरा का पूरा विश्व ही विसंगतियों –विडंबनाओं और क्षरित होते मानवीय मूल्यों की चपेट में आ गया था। नाटक ही नहीं अपितु कविता, कहानी, उपन्यास सभी विधाओं में इस असंगत की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है। 1946 में दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' और 1954 धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' कविता की दृष्टि से नवीन विसंगति को उजागर करता दिखाई पड़ता है। जहां गिर रहे, टूट रहे, मानव मूल्यों की चिंता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह विसंगति मात्र नाटक में ही नहीं थी, वरन साहित्य की लगभग सभी विधाओं में आ चुकी थी। भुवनेश्वर, लक्ष्मी नारायण लाल, विपिन कुमार अग्रवाल, सत्यब्रत सिन्हा, लक्ष्मीकांत वर्मा, मुद्राराक्षस जैसे अनेक असंगत नाटककारों ने एक नए नाटक के फार्म को तलाशा और अनेक नए प्रयोग भी किये, यद्यपि इन नाटककारों को जितनी सफलता मिलनी चाहिए या लेखकों ने आशा की थी उतनी नहीं मिल पाई। इन नाटकों का प्रयोग बहुत देर हो पाया जिसके परिणाम स्वरूप भुवनेश्वर को वह ख्याति नहीं मिल पाई जिसके वे हकदार थे। हिन्दी में सन 1960 के बाद असंगत नाटक अधिक लिखे गये और चर्चित भी रहे। विपिन कुमार अग्रवाल ने भुवनेश्वर को नए आधुनिक नाटक का जन्मदाता भी माना है। पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव भी हिन्दी नाट्य लेखन पर पड़ा जो बहुत व्यापक न होते हुए नवीन है। इस सन्दर्भ में डॉ. गिरीश रस्तोगी का कथन है –'यद्यपि नए नाटककारों और पश्चिम में एब्सर्ड नाट्य धारा के आरम्भ होने से पहले ही हिन्दी में भुवनेश्वर ने वर्तमान युग की ट्रेजडी को और उसके विरुद्ध निश्चित सांचे में ढली हुई उसकी अभिव्यक्ति, नाटक के विरोधाभास को अनुभव कर लिया था। उन्होंने महसूस किया है की विवेक और तर्क तीसरी श्रेणी के

कलाकारों के चोर दरवाजे हैं। उन्होंने विश्व मानव की पीड़ा, अव्यवस्था और विघटन, भय और निराश, टूटते मानवीय रिश्तों के दर्द को अनुभव किया जो उनके 'ताँबे के कीड़े' में तीखेपन के साथ व्यक्त हुए हैं। ताँबे के कीड़े की तिलमिलाहट, आदमी की बेचौनी, उलझन, अकेलापन, तनावपूर्ण वातावरण, शिल्प का नयापन, आक्रामक चित्र एब्सर्ड नाट्य परंपरा का सशक्त उदाहरण है।[15] पाश्चात्य एब्सर्ड नाट्य परम्परा का प्रभाव 1960 के बाद के हिंदी नाटककारों पर भी पड़ने लगा। हिंदी में भुवनेश्वर, विपिन कुमार अग्रवाल और लक्ष्मीकांत वर्मा को एब्सर्ड त्रयी के रूप में देखा जाने लगा था। 1945 से 1960 का दशक विश्व के साथ भारत में भी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमताओं से भरा था। देश स्वतंत्र हुआ पर व्यक्ति स्वतंत्र नहीं हुआ, अस्मिता की जो समस्याएं पहले थी वे आज भी बनी रही बल्कि मूल्यों में गिरावट अधिक आयी। इन विसंगतियों–विडंबनाओं और मूल्यों की गिरावट को परम्परागत नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत कर पाने में इस युग के नाटककार अपने को असमर्थ पाने लगे। सारी दुनिया में जो विवेक और संतुलन के प्रति विश्वास था वह टूटने लगा द्य विकास और विज्ञान के बीच में मनुष्य बर्बरता और हवस के कारण पागल होने लगा। विश्व युद्ध में सारा बौद्धिक वर्ग हिस्सा ले रहा था ,जो रेडियो संगीत सुलभ कराता था वह अब बम गिरा रहा था। सारे रिश्ते नाते उलट पलट गए। सब कुछ निर्माण कर लेने के स्थान पर 'सब कुछ मिटा देने के भय' ने स्थान ले लिया था। एक अजीब स्थिति पैदा हो चुकी थी जिसमें चिड़चिड़ापन महसूस होने लगा था। डॉ0 विपिन कुमार अग्रवाल के शब्दों में –'एक अजब और अनहोनी तनाव के बीच बेहद चिड़चिड़ेपन के साथ जीना है। सब ने इसको महसूस किया। सबने पाया की यथार्थ, माने गए यथार्थ से भिन्न है। उसमे न कथानक है।, न नायक है ,न व्यवस्था है, न निश्चित मूल्य है,न आत्म सम्मान है। आज इंसान चाँद की ओर जा रहा है और इंसानियत रसातल की ओर। अजब हैरानी है।"[16] इन परिस्थितिओं में परम्परागत नाटकों का सृजन जिनके मूल में प्रेम, त्रिकोण प्रेम,राजा–रानी की कहानी, विरह की कथा ,मनबहलाव और मनोरंजन के साधन एकत्र करना असंभव हो गया है। इस युग के नाटककारों ने इसे महसूस किया और अपने आपको बदला। इस युग के नाटककारों की पृष्ठिभूमि को और स्पष्ट करते हुए डॉ. जयदेव तनेजा लिखते हैं – 'महायुद्धों के भयंकर नरसंहार ने जीवन और जगत के पीछे किसी दैवी शक्ति की तर्कसंगत भूमिका को अविश्वसनीय बना दिया था। मानव मूल्य नैतिकता और मर्यादा खोखले शब्द मात्रा रह गए थे। मानव भविष्य आशा, आस्थाविहीन एक घने अँधेरे के सिवा कुछ भी नहीं था। अस्तित्ववादी जीवन दर्शन और ज्यां पाल सार्त्र तथा आल्वेयर कामू जैसे विचारक – रचनाकार उसी दौर की देन हैं।"[17]

संदर्भ

1. आधुनिकता के पहलू –विपिन कुमार अग्रवाल, पृष्ठ 107
2. वृहत हिन्दी कोश –पहला भाग –सं० हरदेव बाहरी ,पृष्ठ 10
3. मानक अंग्रेजी हिंदी कोश –सं० सत्य प्रकाश एवं बलभद्र प्रसाद मिश्रा ,पृष्ठ 07
4. मानक हिंदी कोश –पहला खंड –सं० रामचंद्र वर्मा, पृष्ठ 99
5. रंगमंच कला और दृष्टि –डॉ० गोविन्द चातक, पृष्ठ 105
6. समकालीन हिंदी नाटककार –डॉ० गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ 148
7. वही, पृष्ठ 148
8. असंगत नाटक और रंगमंच –सं० डॉ० नर नारायण राय, पृष्ठ 97
9. हिंदी नाट्य : प्रयोग के सन्दर्भ में –डॉ० सुषमा वेदी, पृष्ठ 246
10. मुद्राराक्षस के असंगत नाटक एक अनुशीलन – जयवंत रघुनाथ राव जाधव, पृष्ठ 28
11. असंगत नाटक और रंगमंच –सं० नर नारायण राय, मणि मधुकर का लेख –निःसंग होती दुनिया के असंगत नाटक, पृष्ठ 17
12. असंगत नाट्य शैली –सं० नर नारायण राय , लेख – मदन मोहन माथुर, पृष्ठ 57
13. वही ,पृष्ठ 19
14. आधुनिकता के पहलू –विपिन कुमार अग्रवाल, पृष्ठ 98
15. समकालीन हिंदी नाटककार –डॉ० गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ 155
16. कारवां तथा अन्य एकांकी – भुवनेश्वर प्रसाद –भूमिका –विपिन कुमार अग्रवाल पृष्ठ 5
17. हिन्दी रंगकर्म दशा और दिशा – डॉ० जयदेव तनेजा ,पृष्ठ 342

■ ■ ■

भक्ति भ्रम से दूर : संत रैदास एक विश्लेषण

डॉ0 विजय कुमार वर्मा
एसो0 प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
जवाहरलाल नेहरू स्मारक स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
बाराबंकी, उ0प्र0

भारतीय संस्कृति अंतर्विरोधों का विचित्र समन्वय है। कवि रैदास का नाम इसी समन्वय का अनुपम उदाहरण है। डॉ0 संगमलाल पांडेय के अनुसार – ''रविदास के कुल बारह नाम मिलते हैं।''[1] यथा – 'रैदास, रयदास, रूइदास, रूईदास, रयिदास, रोहीदास, रोहीतास, रहदास, रामदास, रमादास, रविदास और हरिदास''[2] लेकिन सामान्य रूप से प्रचलित नाम रैदास और रविदास ही है।

रैदास या रविदास के बारे में कहा जाता है कि वे 'भक्त शिरामणि' थे। यह धारण सिर्फ द्विज लेखकों की ही नहीं है कतिपय दलित लेखक भी जान–बूझकर फैलाये गये भ्रम का शिकार होकर लिखते हैं। ज्ञानमार्गी कवि कबीर, रैदास आदि भक्त और कवि में भक्त नहीं कवि नजर आते हैं। भक्ति दीनता है, वह व्यक्ति के अन्दर के मनुष्य को मिटा देती है। भक्ति का अर्थ है अपना दिमाग, अपनी बुद्धि, तर्क और अस्मिता सब कुछ छोड़ कर आओ। क्या कबीर या रैदास इस अर्थ में भक्त नजर आते हैं। तमाम लेखकों ने विकृतीकरण से ज्ञानमार्गी कवि कबीर या रैदास को भक्त बनाने का पूरा प्रयास किया है जैसे – 'कबीर समग्र' के लेखक डॉ0 युगेश्वर ने शुरूआत ही कबीर को भक्त बनाने से की है। हम ज्ञानमार्गी कवि पढ़ते हैं लेकिन ज्ञानमार्गी भक्त नहीं। जिसकी भक्ति में ज्ञान और विवेक को भी कोई स्थान मिला हो।

गुरू के रूप में रामानंद को स्थापित करना और कबीर और रैदास को उनका शिष्य बनाना एक कूटनीतिक चाल है। क्योंकि रामानंद के बिना न कबीर भक्त साबित हो सकते हैं और न ही रैदास। कबीर को भक्त साबित करने के लिए लोग 'कबीर समग्र' की पंक्ति – ''भक्ति द्रविड़ ऊपजी लाये रामानंद'' का उदाहरण देते हैं। जबकि कबीर का कथन है कि यह जो भक्ति–भाव है, यह तो द्रविड़ की है, रामानंद लेकर आए हैं। अध्ययन से यह भी पता चलता है कि रामानंद से पहले हिन्दी क्षेत्र में भक्ति की अवधारणा नहीं थी। तो क्या कबीर और रैदास की क्रांति के प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिक्रांति के रूप में विस्तारित की गई।

भक्ति मनुष्य मुक्ति के लिए करता है। इस नरक से मोक्ष पाकर स्वर्ग प्राप्त के लिए करता है। हिन्दू पूजा–पाठ से स्वर्गलोक और मुसलमान अल्लाह और रसूल की इबादत से जन्नत पाने की बात करता है। लेकिन गुरू रैदास को न मोक्ष चाहिए और न स्वर्ग चाहिए। तो वे भक्ति क्यों करेंगे। वे बैकुंठ और स्वर्ग की इच्छा बिल्कुल नहीं करते और कहते हैं–

स्वर्ग–भोग ईछै नहीं, नहीं बैकुंठ निवास।

दरस चहै सत राम के उहै साधु रैदास।।[3]

भक्त के लिए ईश्वर की पहचान अनिवार्य शब्द है। रैदास कहते हैं मैं राम को नहीं जानता तो मैं भक्त कैसे हो सकता हूँ, न मैं चरन धोता हूँ और न ही मैं सेवा करता हूँ –

राम जन्हूं ना भगत कहाऊं, चरन पखारूं न सेवा।

जोइ–जोइ करौं उलटि मोहिं बांधे, ताते निकट न मेवा।[4]

रैदास किसी किताबी ज्ञान और भक्ति में करने वाले ध्यान दोनों से दूरी बनाने अर्थात् परित्याग की बात करते हैं–

''ज्ञान–ध्यान दूर दोउ कीन्हें''[5]

भक्ति में दासता का भाव है और किसी भी प्रकार की दासता रैदास के लिए निषेध है। वह किसी निर्गुण ब्रह्म के भी भक्त नहीं है क्योंकि निर्गुण कोई ब्रह्म है ही नहीं, जिसकी भक्ति की जा सके। रैदास का कहना है कि अपना दीपक स्वयं बनों। तुम खुद ही अपने स्वामी हो तुम्हारा कोई स्वामी नहीं हो सकता है। वह राम, भक्ति, दास्य, यज्ञ आदि से अपने को अनिभिज्ञप बताते हैं और कहते हैं इसलिए मैं किसी का दास नहीं हूँ अर्थात् अ–दास हूँ –

राम न जानू, न भगत कहाऊं, सेवा करूं न दासा।

जोग यज्ञ गुन कुछ न जानूं, ताते रहूं उदासा।।[6]

रैदास परलोक को अस्वीकार करते हैं और भगवान के दरबार में नहीं बल्कि इसी भौतिक संसार में मनुष्य–मनुष्य में कोई भेद नहीं होने के कारण समाज में समानता चाहते हैं –

अबरन बरन रूप नहिं जाकें,

का कहि देउं बड़ाई।।[7]

रैदास कहते हैं गुणगान करने, नाचने, गाने, चरण धोने, सिर मुंडाने, तीर्थ व्रत आदि से परम तत्त्व नहीं मिलने वाला क्योंकि परम तत्त्व तो उसके स्वयं के अन्दर है और जिस किसी ने स्वयं के परम तत्त्व को पहचान लिया वह इस संसार को बहुत कुछ देकर ही गया है। रैदास कहते हैं उनसे भक्ति दूर है, क्योंकि उन्होंने अपने अभिमान का ही त्याग नहीं किया है। अर्थात् भक्ति पाखण्ड है और जो परम तत्त्व है वह ईश्वर नहीं बल्कि 'आतम तत्त्व' है। वे कहते हैं–

भगति ऐसी सुनहू रे भाई

आई गति तब कई बड़ाई।

कह रैदास तोरि भगति दूर है, भाग बड़े सो पावे।

तजि अभिमान मेटि आपा, पिथलिक हाइ चुन चुन खावे।।[8]

रैदास ने भ्रमित भक्तों की एक लम्बी सूची बताई है जिसमें अपने समय के भ्रमित भक्तों के तमाम रूपों को प्रदर्शित किया है जैसे – कोई नाचकर भक्ति प्रदर्शित करता है, कोई गाकर, कोई जप–तप करके, कोई दान करने में, कोई गृह–त्याग आदि–आदि में जैसे –

भाई रे भरम भक्ति सो जान।

जौ लों सोच सों नहीं पहिचान।

भरम नाचन, भरम गायन, भरम जप–तप दान।

भरम सेवा, भरम पूजा, भरम सो पहिचान।।

भरम शुद्ध भारीर तौ बलौ, भरम नांव बिनांव।

भरम भनि रैदास तौ लौ, जौ लौं चाहे ठांव।।[9]

रैदास कहते हैं कि ऐसी भक्ति करने से क्या होगा जिससे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। अर्थात् भक्ति ज्ञान का विषय नहीं है। मतलब भक्ति के लिए ज्ञान की जरूरत नहीं है। जबकि व्यक्ति के जीवन में ज्ञान का बहुत महत्व है। वे कहते हैं –

भगति न रस दान, भगति न कथै ज्ञान।

भगति न वन में गुफा खुदाई।।

भगति न ऐसी हांसी, भगति न आसापासी।

भगति न यह सब कुल–कासि गवाईं।।

भगति न इन्द्री बांधा, भगति ने जोग साधा।

भगति न अहार घटाई, ये सब करम कहाई।।[10]

इतना ही नहीं रैदास ने भक्ति को अविद्या का दूसरा नाम दिया है वे कहते हैं कि इसी अविद्या ने लोगों का अहित किया है और इसी ने विवेक अर्थात् सोचने समझने की क्षमता के दीप को मलिन किया है जैसे –

''साधो, अविद्या अहित कीन। ता तैं विवेक दीप मलीन।''[11]

रैदास भक्ति को पराधीनता मानते हैं। उनका कहना है कि भक्ति में व्यक्ति एक ऐसे ईश्वर के प्रति दास–भाव स्वीकार कर लेता है जिसका वर्तमान से कोई वास्ता ही नहीं है अर्थात् उसका अस्तित्व ही नहीं है। वे इस पराधीनता को पाप कहते हैं –

''पराधीनता पाप है जान लेहु रे मीत।''[12]

रैदास का कहना है कि भक्ति आदमी को अकर्मण्य बनाती है। व्यक्ति कुछ करने के लिए मेहनत, ज्ञान, तर्क, संघर्ष आदि को त्याग कर केवल भक्ति के द्वारा सब पाने की कामना करता है। अगर यह संसार का हर व्यक्ति करने लगे तो दुनिया का चक्र ही रूक जायेगा। वह पूजा–इबादत आदि इसलिए करता है कि ईश्वर प्रसन्न होकर उसके कश्टों का निवारण कर देंगे, यहीं पराधीनता है। राजतंत्र में प्रजा भी इसी भाव से राजा के समक्ष नतमस्तक रहती थी। क्योंकि आदमी मान लेता है कि उसे कुछ करने की जरुरत नहीं है सब कुछ ई वर द्वारा उसे स्वतः प्राप्त हो जायेगी। रैदास ऐसे आदमी को हीन और बेदीन कहते हैं –

पराधीन का दीन क्या, पराधीन बेदीन।

रैदास पराधीन को सभैही समझे हीन।।[13]

रैदास कहते हैं कि धर्म की कोई जाति नहीं होती है अर्थात् जाति आधारित धर्म कभी नहीं हो सकता। धर्म हमेशा मनुष्य आधारित होना चाहिए, न कि जाति आधारित। वे कहते हैं –

धरम की कोई जाति नहीं, न जाति धर्म के माहि।

रैदास सो चले धरम पर, करेंगे धरम सहाय।।[14]

भारत का दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ जाति ही किसी व्यक्ति के सामाजिक स्तर को निर्धारित करती रही है। उसे ऊँच और नीच मानने और मनवाने के लिए बाध्य करती रही है। गुरू रैदास इसीलिए ऐसी जाति प्रथा को सिरे से खारिज करते हैं जो व्यक्ति–व्यक्ति को जोड़ती नहीं अपितु तोड़ने का काम करती है, जो एक रोग है –

''जात–पाँत के फेर मंहि, उरझि रहई सब लोग।

मानुषता को खात हइ, रैदास जाति का रोग।।''[15]

वर्ण–व्यवस्था जो समाज को बाँटने का कार्य करती है। इसे अभिशाप मानते हुए इसे माानने वालों को रैदास ने मूर्ख कहा है और सैद्धान्तिक स्तर पर इसका विरोध किया और कहते हैं –

''रैदास एक ही बूँद सौं, सब ही भयों वित्थार।

मूरिख है जो करत हैं वरन अवरन विचार।।[16]

'रैदास' एक ही नूर ते जिमि उपज्यों संसार।

ऊँच–नीच किहि विध भये, ब्राह्न और चमार।।''[17]

रैदास का कहना था कि मनोवांछित जन्म लेना किसी के भी बस में नहीं है। तो व्यक्ति जन्म से ऊँच–नीच कैसे हो सकता है। समाज को बाँटने के लिए कर्म का हवाला देकर यह ऊँच–नीच की बात गलत है। हाँ व्यक्ति संसार में आने के बाद अपने कर्मों द्वारा श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट को निर्धारित करते हैं –

''रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।

नर को नीच करि डारि हैं, औछे करम की कीच।।''[18]

रैदास जन्म से अपने को श्रेश्ठ मानने वाले की अपेक्षा उस श्रमिक को ज्यादा अच्छा मानते हैं जो श्रम अथवा अपने मेहनत के बल पर अपना पेट भरता है –

धरम–करम जानै नहीं मन यह जाति अभिमान।

ऐ सोउ, ब्राह्मण सो भलो, रैदास श्रमिकहु जाना।।''[19]

संघर्ष व्यक्ति को महान बनाता है। अगर व्यक्ति के अन्दर संघर्ष करने की क्षमता नहीं है तो उसे पराधीन होने से कोई नहीं रोक सकता है। संघर्ष व्यक्ति के मस्तिष्क को चैतन्य रखता है उसके विवेक को जगाता है, उसको कर्तव्य पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देता है। उसके मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है और यही सच्चे अर्थों में धर्म है। इसलिए श्रम को साधना मानने वाले व्यक्ति का ही जीवन सफल होता है –

प्रेम भगति श्रम साधना, जग यह जिन्हहि पास।

तिनहि जीवन सफल है, सत भाशै रैदास।।[20]

रैदास किसी व्यक्ति को देखकर घृणा महसूस होने वालों को दण्ड का भागी बताते हैं क्योंकि जो सामाजिक समानता और समरसता का शत्रु है। रैदास जैसे कवियों के बल पर ही आज भारत अपनी अखण्डता को संजोए हुए हैं। इन सम्पूर्ण तथ्यों पर गंभीरता से विचार करने के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि रैदास के काव्य का वैचारिक आधार बहुत दृढ़ तथा उसकी भावात्मक पृष्ठभूमि बहुत ही विस्तृत तथा सामाजिक महत्व की है क्योंकि उसमें अकर्मणता का कोई स्थान नहीं है। उसका उद्धार भक्ति से नहीं स्वयं के कर्म से सम्भव है।

सन्दर्भ :

1. संत रैदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व – श्री संगम लाल पांडेय, पृष्ठ 07
2. वही, पृष्ठ 05 से 09 तक
3. संत रैदास : एक विश्लेषण – कंवल भारती, पृष्ठ 112
4. वही, पृष्ठ 113
5. वही, पृष्ठ 113
6. वही, पृष्ठ 114
7. वही, पृष्ठ 116
8. वही, पृष्ठ 118–119
9. वही, पृष्ठ 115
10. वही, पृष्ठ 122
11. वही, पृष्ठ 128
12. वही, पृष्ठ 168
13. वही, पृष्ठ 167
14. वही, पृष्ठ 167
15. संत कवि रैदास : मूल्यांकन और प्रदेश, डी.एन. सिंह पद संख्या – 155, पृष्ठ 33
16. वही, साखी संख्या 86, पृष्ठ 28
17. वही, साखी संख्या 89, पृष्ठ 29
18. वही, साखी संख्या 160, पृष्ठ 33
19. संत रैदास : एक विश्लेषण – कंवल भारती, पृष्ठ 168
20. वही, पृष्ठ 175

■ ■ ■

हिन्दी कथा साहित्य में स्त्री विमर्श : एक अध्ययन

डॉ0 संजय कुमार यादव
शिक्षक, बेसिक शिक्षा विभाग,
उत्तर प्रदेश

हिन्दी कथा साहित्य के अन्तर्गत स्त्री व पुरुष एक दूसरे के पूरक तत्व हैं। किसी एक के बिना दूसरे की कल्पना भी सम्भव नहीं है लेकिन सामाजिक विकास की प्रक्रिया में दोहरे मानदण्डों के द्वारा स्त्री की स्वायत्ता का हरण करके उसे अस्तित्वहीन व दोयम दर्जे का बना दिया गया। जिससे उसकी समाज में कोई सक्रिय भूमिका ही नहीं रह गयी, अधीनता उसकी नियति बन गयी। समाज की सभी संस्थाएँ, परम्पराएँ एवं मूल्य पुरुष सत्ता द्वारा व पुरुषों के अनुकूल रचे गये। स्त्री की जैविक भिन्नता को पुरुष सन्दर्भों में पुनर्परिभाषित कर उसकी अस्मिता को भी पितृसत्तात्मक आधार पर निर्धारित किया गया। जहाँ स्त्री को माँ, पत्नी, बहन, बेटी की भूमिका तक सीमित रखा गया। अपनी कृति 'स्त्री अस्मिता और कृष्णा सोबती' में डॉ0 रूपा सिंह लिखती हैं। उसकी अस्मिता यहीं तक सीमित होकर रह जाती है। इस प्रकार वह स्वयं होने के बजाय किसी की पुत्री, पत्नी, बहन या माँ के रूप में जानने योग्य रह जाती है। जिससे स्त्री अस्मिता का मनोवैज्ञानिक आधार स्वतः कमजोर होने लगता है।

मुख्य शब्द : अर्थ, स्वरूप, परम्परा।

स्त्री 'विमर्श' का शाब्दिक अर्थ है– ''विचार, विवेचन, परीक्षण या समस्या।''[1] यह अंग्रेजी के 'क्पेबवनतेम' का हिन्दी रूपान्तर है जिसका अर्थ– वार्तालाप या किसी वर्ण्य विषय पर सुदीर्घ एंव गम्भीर चिन्तन–मनन। हिन्दी के आलोचक डॉ0 वीरेन्द्र यादव 'विमर्श' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं– ''विमर्श का अर्थ है– जीवन्त बहस। साहित्यिक रूप में देखे तो विचार का विचार और वर्चस्व की प्राप्ति।''[2] विमर्श को परिभाषित करते हुये हिन्दी की सशक्त रचनाकार अनामिका लिखती हैं– ''विमर्श साझा चूल्हा है और इनका लक्ष्य है संवाद। संवाद तब तक होते हैं, जब तक परिवर्तन और परिष्कार की कोई उम्मीद हो, वरना अबोला हो जाता है या मार–काट शुरू हो जाती है। विमर्श मारकाट नहीं मचाते, प्रजातंत्र के अच्छे नागरिकों की तरह मानवाधिकार के मुद्दे उठाते हैं, तार्किक ढंग से उठाते हैं और सहमति अर्जित करते हैं ताकि प्रदूषण घटे।''[3] किसी समस्या या स्थिति के सभी पहलुओं को ध्यान में रखते हुये भिन्न मानसिकताओं व विचारों का समाहार करते हुए, उसका समग्र रूप से अध्ययन व विश्लेषण करना और उससे प्राप्त तथ्यों के अनुसार सर्वोत्कृष्ट निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास करना ही विमर्श कहलाता है।

''स्त्री–विमर्श नारी मुक्ति आन्दोलन का सैद्धान्तिक वैचारिक पक्ष है।''[4] यह नारी के विषय में स्थापित पूर्वाग्रहों, संकीर्ण व दोहरी मानसिकता पर कुठाराघात कर स्त्री के सहअस्तित्व, सक्रिय भूमिका व समान भागीदारी का समर्थन करता है। 'स्त्री–विमर्श' एक गहन अर्थ वाला शब्द है, जो स्त्री–मुक्ति या स्वातन्त्र्य के साथ–साथ स्त्री की अस्मिता, चेतना एवं स्वाभिमान को भी अपने में समाहित करता है।

स्त्री–विमर्श साहित्य व समाज में मात्र स्त्री प्रश्नों को ही नहीं उठाता बल्कि पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे मापदण्डों, विकृत रूढ़ियों व परम्पराओं, लिंग भेद की राजनीति, स्त्री एवं दलित शोषण–उत्पीड़न के अंतर्भूत कारणों को समझने की दृष्टि भी प्रदान करता है। 'स्त्री–विमर्श' न केवल पुरुष वर्चस्ववादी समाज के दोहरे मापदण्डों का अतिक्रमण करता है बल्कि पितृक सत्ता परिवर्तन का भी लक्ष्य रखता है। इस कारण यह केवल स्त्री अस्मिता विमर्श तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि 'सामाजिक–विमर्श' तथा सत्ता–विमर्श के विविध आयामों तक भी जाता है।

स्त्री–विमर्श परम्परा, स्त्री–विमर्श किसी निश्चित

समय सीमा में किसी एक व्यक्ति द्वारा सोच–समझ कर उद्भूत किया गया विमर्श नहीं है बल्कि यह सामाजिक असमानता तथा अन्याय से उपजा विमर्श है। स्त्री चेतना तथा विमर्श के विकास की दृष्टि से देखें तो सर्वप्रथम बौद्धकालीन 'थेरीगाथा' स्त्री चेतना का सशक्त उदाहरण माना जा सकता है इसमें बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन अनुभव पिरोये हैं। इसमें 73 भिक्षुणियों के उदान अर्थात् उद्गार 522 गाथाओं में संग्रहीत हैं। ये सभी भिक्षुणियाँ महात्मा बुद्ध की समकालीन तथा उनकी शिष्याएँ हैं। 'थेरीगाथा' का रचनाकाल प्रथम बौद्ध संगीत से तृतीय बौद्ध संगीति के मध्य का है।

आधुनिक काल में स्त्री की स्थिति में सुधार हेतु अनेक प्रयास समाज–सुधारकों ने किये। जिसके परिणाम स्वरूप बाल–विवाह, सती प्रथा का विरोध तथा विधवा विवाह का समर्थन किया जाने लगा। स्त्री शिक्षा के प्रति यह दृष्टिकोण सभी का था, फिर चाहे वह दयानन्द सरस्वती या राजा राममोहन राय हों अथवा हिन्दी पट्टी के लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके मण्डल के अन्य साहित्यकार।

नवजागरण के प्रकाश में फरवरी 1882 में 'एक अज्ञात हिन्दू औरत' की 'सीमन्तनी–उपदेश' प्रकाशित हुई। इसमें सदियों से गुलामी की बेड़ियों में जकड़ी स्त्री की पीड़ा को व्यक्त किया गया तथा पुरुषवादी समाज की दोहरी नीतियों और उन धार्मिक विश्वासों तथा नियमों का विरोध किया गया जो पुरुषों को श्रेष्ठ तथा कर्ता बनाता है तो स्त्रियों के लिए पशु से भी बदतर स्थितियाँ उत्पन्न करता है। इसके बावजूद इस युग में स्त्री–विमर्श कोई स्पष्ट आकार नहीं ले सका। इसी दौर में 'बंग महिला' के नाम से लिखने वाली राजेंन्द्र बाला घोष अपने विचारोत्तेजक लेखों तथा 'दुलाई वाली' 'भाई–बहन' 'हृदय–परीक्षा' आदि कहानियों के साथ उपस्थित होती हैं जो स्त्री अस्मिता के प्रश्नों से अनुप्राणित है। इन रचनाओं में हिन्दू धर्म की रूढ़ियों पर प्रहार करते हुए मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिये आग्रह मिलता है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध के विमर्श में समाज की रूढ़ परम्पराओं का नकार मिलता है।

20वीं सदी तक आते–आते 'ब्रह्मसमाज', 'आर्यसमाज', 'सत्यशोधक समाज' तथा स्वाधीनता आन्दोलन के कारण स्त्री जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भारत में स्त्री शिक्षा, सहभागिता ने स्त्री के अन्दर नवीन चेतना का संचार किया। उसके फलस्वरूप वे अपने अधिकारों के प्रति अधिक मुखर हुई। साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति उसके साथ हो रहे अमानवीय व्यवहारों और पीड़ा के रूप में हुई। 'स्त्री–पुरुष समानता' की अवधारणा इसी युग की देन है। इससे पूर्व युग में अनुपयोगी तथा रूढ़ परम्पराओं एवं मूल्यों का विरोध किया गया किन्तु 'समानता' पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया परन्तु इस सदी का विमर्श 'स्त्री अस्मिता' के साथ 'समानता' की माँग पर भी जोर देता है। ''स्वतन्त्रता आन्दोलन में स्त्रियों की बढ़ती हुई भागीदारी ने राष्ट्रीय नेतृत्व को भी 'समानता' के पक्ष में बोलने के लिये मजबूर किया।''[5]

शिवरानी देवी ने अपनी रचनाओं में शोषित, पीड़ित स्त्री के अन्तर्मन के अंधेरे कोनों को ही उद्घाटित नहीं किया बल्कि दहेज प्रथा, बहु विवाह, पारिवारिक कुरीतियों, रुढ़ियों, अन्याय, उत्पीड़न तथा स्त्री शोषण का भी कड़ा विरोध किया है। इनके कहानी संग्रह 'कौमुदी' एवं 'नारी हृदय' सर्वाधिक चर्चित संग्रह हैं। इनकी नायिकाएँ सत्ता की प्रताड़ना या उत्पीड़न से डरकर नहीं रहती बल्कि उनका प्रतिरोध करती हैं। वे अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने में समर्थ हैं। रोहिणी अग्रवाल की मानें तो–''संपत्ति, संतान, धर्म और देह पर स्त्री के अधिकार की कामना करती शिवरानी देवी आज के स्त्री विमर्श की जननी प्रतीत होती हैं।''[6]

स्वाधीनता आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी को तो स्वीकारते हैं किन्तु एक सीमित क्षेत्र तक। ''अधिकांश स्त्रियों का उपयोग वे दो तरह से करना चाहते हैं कि स्त्रियाँ घर में रहकर ही चरखा कातें और अपनी संतान में राष्ट्रसेवा और देशप्रेम का संस्कार विकसित करें।''[7] इस प्रकार की मानसिकता के प्रभावस्वरूप साहित्य तथा समाज में 'स्त्री स्वतन्त्रता' तथा 'समानता' की अवधारणा साकार रूप नहीं ले पाती। राष्ट्रीय स्वाधीनता को ही स्त्री स्वतन्त्रता का पर्याय मान लिया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप स्त्री मुक्ति आन्दोलन, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में ही विलीन हो जाता है और यह मान लिया जाता है कि राष्ट्र के स्वतन्त्र

होते ही स्त्री भी स्वतन्त्र हो जायेगी। स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी तथा 1947 की आजादी ने महिलाओं को मुक्ति का स्वप्न तो दिखलाया किन्तु उसे मूर्त रूप देने का प्रयास नहीं किया। तत्कालीन परिस्थितियों में स्त्री की स्थिति में जो बदलाव आये थे वे नाकाफी थे। 1970 तक आते–आते मोहभंग की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संवैधानिक संरक्षण तथा नारीवादी आंदोलनों के प्रभाव स्वरूप हर क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी तथा उनके जीवन स्तर में भी कुछ परिवर्तन हुआ। भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ ही साहित्य रचना की सैद्धान्तिकी में भी अनेक परिवर्तन आये। इस अवधि में हिन्दी जगत में अलग से 'स्त्री अस्मिता विमर्श' प्रारम्भ हुआ। नेमिचन्द्र जैन के अनुसार– ''इस दौर के उपन्यासों में एक नया स्वर नारी के नये रूपों और स्त्री–पुरुष संबंधों के नये आयामों की अभिव्यक्ति के कारण हैं। मुख्य बात यह है कि इन उपन्यासों में नारी को सतीत्व और देवीत्व के कटघरों से निकालकर उसे इन्सान के रूप में देखने–समझने का प्रयत्न हुआ है।''[8]

20वीं सदी के उत्तरार्द्ध का 'स्त्री–विमर्श' स्त्री के शोषण–उत्पीड़न, असमानता, सामाजिक पूर्वाग्रह तथा रूढ़ि मान्यताओं और परम्पराओं को सिरे से नकारता ही नहीं बल्कि इसके साथ स्त्री समाज के प्रति संकीर्ण तथा पूर्वाग्रस्त दृष्टिकोण में परिवर्तन की पैरवी भी करता है। यह स्पष्ट करता है कि शिक्षित तथा अधिकार सम्पन्न नारी किसी भी प्रकार से पुरुषों से कमतर नहीं। स्त्री विमर्श की इसी वैचारिकी के कारण मानवीय, वैचारिक तथा संवेदना के धरातल पर अब स्त्री की अस्मिता, उसके अस्तित्व पर गहरायी से विचार किया जाने लगा। तद्युगीन साहित्य में स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को विभिन्न कोणों से उठाते हुये दैहिक प्रश्नों पर भी स्त्री दृष्टि से विचार किया गया। स्त्री यौनिकता तथा देह के प्रश्नों पर खुलकर चर्चा भी इस दौर में की जाने लगी क्योंकि अब तक यह स्पष्ट हो चुका था 'नारीवादी विमर्श' नामक पुस्तक में राकेश कुमार इस तथ्य का समर्थन करते हुये लिखते हैं–''स्त्रीत्ववादी विमर्श में अब स्त्रियाँ खुलकर ऐसे प्रश्नों, अंतर्विरोधों पर विचारने लगी हैं कि नैतिकता, पवित्रता, मर्यादाशील, मातृत्व के मुद्दे क्या हैं और उनका स्त्री शोषण के साथ क्या सम्बन्ध है।?''[9]

समकालीन स्त्री विमर्शकार परम्परागत धर्म, कानून, परम्परा, सिद्धान्त, नैतिकता, अनुशासन, आलोचना, साहित्य एवं कला आदि में स्त्री विरोधी तत्वों की पड़ताल पर उन्हें सामने लाता है। इन विमर्शकारों में कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, राजी सेठ, ममता कलिया, मृदुला गर्ग, चित्रामुद्गल, चंद्रकांता, मंजुल भगत, मृणाल पाण्डेय, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मधु काकरिया, जया जदवानी, शशिप्रभा शास्त्री, अलका सरावगी आदि प्रमुख हस्ताक्षर हैं। समय के साथ बदलते संदर्भों को इन लेखिकाओं ने प्रामाणिक आकलन के साथ अभिव्यक्त किया है चाहे वह नारी मन की पीड़ा, छटपटाहट, घुटन हो या यौन वर्जनाओं के प्रति नकारात्मक दृष्टि के साथ दैहिक संबंधों के कारण व्याप्त अंतर्विरोध तथा सूनेपन की अभिव्यक्ति हो।

मन्नू भंडारी के उपन्यासों में 'आपका बंटी' (1971) अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है। इसमें पहली बार मन्नू भंडारी ने तलाकशुदा माँ के अंतर्द्वन्द्वों से जुड़े प्रश्न उठाये हैं। यह उपन्यास टूटते बिखरते वैवाहिक संबंधों एवं पारिवारिक बिखराव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। स्त्री जब कर्म क्षेत्र में आती है तो नयी स्थितियाँ और नये समीकरण बनते हैं। जिससे अधिकांशतः दाम्पत्य जीवन में तनाव उत्पन्न हो जाता है।

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'डार से बिछुड़ी' (1958), 'सूरजमुखी अंधेरे के' (1972), 'जिन्दगीनामा' (1979), 'मित्रों मरजानी' (1970), 'ऐ लड़की' आदि में स्त्री की एक अलग छवि उभर कर सामने आती है, जो पितृसत्तावादी अर्द्ध सामंती सोंच को तोड़ती दिखायी पड़ती है। इनके यहाँ वंचित और शोषित होने का अहसास उनके मार्ग का अवरोधक नहीं बनता बल्कि कर्मक्षेत्र में प्रवृत्ति होने की प्रेरणा बन जाता है। 'ऐ लड़की' की अम्मू का कथन इसी स्त्री अस्मिता संघर्ष की अभिव्यक्ति है–''वैसे चाहे तो तुम क्या नहीं कर सकती' ....वह तो पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों के समानांतर अपनी अस्मिता को पहचान देने की प्रक्रिया में मनुष्य है जो पितृसत्तात्मक समाज के पुनरीक्षण की माँग करती है अर्थात् भोग्या होने की अभिशप्त नियति से

हटकर 'कर्ता' होने तथा आर्थिक स्वावलम्बन के आधार की तलाश और पहचान करती स्त्री।''[10]

ऊषा प्रियंवदा ने आधुनिक समाज में स्त्री के बनते–बिगड़ते अनेक रूपों को अपनी रचनाओं के केन्द्र में रखा है। 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' उनका पहला उपन्यास है, जिसमें उन्होंने मध्यवर्गीय, आधुनिक नारी के जीवन यथार्थ एवं उसकी मानसिक यंत्रणा का अंकन किया है। 'रुकोगी नहीं 'राधिका' में इस संत्रास को दूसरे संदर्भों में चित्रित किया है। इसकी कथानायिका राधिका पारिवारिक बंधनों को तोड़कर अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता पाना चाहती है। 'शेषयात्रा' की 'अनु' भी अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है। यहाँ भी आधुनिक नारी की समस्या को केन्द्रीय विषय बनाया गया किन्तु यहाँ नारी असहाय अथवा असुरक्षित नहीं है।

''मृदुला गर्ग का उपन्यास 'कठगुलाब' स्त्री की सृजनात्मक क्षमता के बहुआयामी सन्दर्भों को विवेचित करता है। यद्यपि इस पर 'पश्चिमीफेमनिज्म' की तर्ज पर नारीवाद का बौद्धिक वाग्जाल''[11] स्त्री के पास मातृत्व के अतिरिक्त भी सृजन के अन्य विकल्प हो सकते हैं, इसका विश्लेषण इस उपन्यास के माध्यम से किया गया है। इसके अतिरिक्त 'उसके हिस्से की धूप', 'चितकोबरा', 'अनित्य', 'मैं और मैं', 'कितनी कैदें', 'डेफोडिल जल रहे हैं', 'टुकड़ा–टुकड़ा आदमी' आदि उपन्यासों और कहानियों में स्त्री अस्मिता को नवीन सन्दर्भों के साथ अभिव्यक्त किया है।

मंजुल भगत ने अपनी रचनाओं में निम्न मध्यवर्गीय समाज के आर्थिक दबावों के बीच टूटती बिखरती संघर्ष करती स्त्री को केन्द्र में रखा है। उनके उपन्यास 'अनारो' की नायिका स्त्री को उसके जीवन की समस्त कटुताओं के साथ रेखांकित करती है। उन्होंने अपने कथा–साहित्य फिर चाहे वह 'खातुल' उपन्यास हो अथवा 'गुलमोहर के गुच्छे' आदि कहानी संग्रह सभी में स्त्री के विविध रूपों को उकेरा है।

'बेघर' उपन्यास में ममता कालिया ने स्त्री की यौन शुचिता के विषय में पितृक संस्कारबद्ध व कुंठित मानसिकता पर गहरी चोट की है। उनके पहले उपन्यास 'बेघर' से लेकर 'नरक दर नरक', 'प्रेम कहानी' और 'एक पत्नी के नोट्स' तक सभी उपन्यासों में घर और प्रेम के बीच द्वन्द दिखायी पड़ता है। जो 'दौड़' पर आकर प्रेम, स्वतन्त्रता और पति–पत्नी की परस्पर निर्भरता की स्थापना के साथ समाप्त होता है।

चित्रा मुद्गल स्त्री–विमर्श की सशक्त रचनाकार हैं। उनका उपन्यास 'आवाँ' श्रमिक स्त्री की अस्मिता खोज का उपन्यास है। जिसमें पितृक संस्कारों वाले परिवार तथा समाज में स्त्री की परम्परागत स्थिति तथा परिवर्तन की ओर उन्मुख हो रही स्थिति को रेखांकित किया गया है। इसमें उन्होंने परिवार, विवाह, संस्था तथा पितृक सामाजिक संरचना की खोखली व्यवस्था पर सवाल उठाये हैं।

प्रभा खेतान ने अपने कथा–साहित्य में नारी जीवन की त्रासदियों और संघर्षों को संवेदनशील स्त्री दृष्टि से देखा–परखा है। अर्थ तथा देह इन दोनों स्तरों पर निरन्तर स्त्री का शोषण होता आया है। ये कथा नायिकायें आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके पुरुष वर्चस्ववादी समाज में अपने लिये जगह भी बनाती हैं। 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' पुस्तक में 'छिन्नमस्ता' पर टिप्पणी करते हुये 'गोपाल राय' इसे ''आधुनिक नारी की त्रासदी और संकल्प का प्रामाणिक दस्तावेज मानते हैं।''[12]

मैत्रेयी पुष्पा ने अपने कथा जगत में ग्रामीण परिवेश की नारी की स्थिति तथा उनमें जागृत हो रही चेतना को केन्द्र में रखा है। 'बेतवा बहती रही' (1993), 'इदन्नमम्' (1994), 'चाक' (1997), 'अल्मा कबूतरी' (2004) आदि सभी उपन्यासों में नारी चेतना मूक विद्रोह से मुखर संघर्ष की ओर अग्रसर हुई है। जो आगे चलकर सामाजिक संघर्ष में भी परिणत हो जाता है। 'बेतवा बहती रही' की 'उर्वशी' पितृक परिवार के बंधनों के विरूद्ध खड़ी होती है तो 'इदन्नमम्' की 'मंदा' न केवल परिवार बल्कि उससे भी आगे जाकर समाज द्वारा निर्मित बंधनों और मान्यताओं को तोड़कर सामाजिक विसंगतियों के विरूद्ध खड़ी होती है।

इन रचनाकारों और उनकी रचनाओं के अतिरिक्त नासिरा शर्मा का 'शाल्मली', मेहरून्निशा परवेज़ का 'अकेला पलाश', अलका सरावगी का 'शेष कादम्बरी', गीतांजलि श्री का 'माई', 'तिरोहित', मृणाल पाण्डेय का 'रास्तों पर भटकते

हुए' जैसे उपन्यास तथा कृष्णा अग्निहोत्री की 'अपने—अपने कुरुक्षेत्र', 'तीन किलो की छोरी', उषा महाजन की 'शोषित' और 'एण्टीक', नासिरा शर्मा की 'खुदा की वापसी', उर्मिला शिरीष की 'चीख', जया जादवानी की 'मुझे ही होना है बार—बार', 'अन्दर के पानियों में कोई सपना कांपता है', मधु कांकरिया की 'नामर्द', मालती जोशी 'औरत एक रात है', सुधा अरोड़ा की 'आखिरी चिट्ठी', अलका सरावगी की 'दूसरे किले में औरत' आदि कहानियाँ स्त्री अस्मिता विमर्श की सशक्त रचनाएँ हैं, जो नारी की मुक्ति चेतना, अधिकार स्वातन्त्र्य, समानता तथा सहअस्तित्व के लिये उसके संघर्षों और दृढ़ संकल्पों की बात करती दिखायी देती है।

संदर्भ सूची

1. हिन्दी शब्दकोश— डॉ0 हरदेव शास्त्री, पृ0 751
2. नयी सहस्त्राब्दी में स्त्री विमर्श (सम्पादकीय)— डॉ0 वीरेन्द्र यादव, पृ0 11
3. स्त्री मुक्ति : साझा चूल्हा— अनामिका, पृ0 9
4. गवेषणा, अंक 91, जुलाई—सितम्बर 2008— मीरा सरीन, पृ0 141
5. स्त्रीत्ववादी साहित्य विमर्श— जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ0 91
6. स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प— रोहिणी अग्रवाल, पृ0 98
7. स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प— रोहिणी अग्रवाल, पृ0 88
8. अधूरे साक्षात्कार— नेमिचन्द्र जैन, पृ0 6
9. नारीवादी विमर्श— राकेश कुमार, पृ0 57
10. ऐ लड़की— कृष्णा सोबती, पृ0 74
11. आधुनिक हिन्दी उपन्यास 02— सं0 नामवर सिंह, पृ0 21
12. आधुनिक हिन्दी उपन्यास 02— सं0 नामवर सिंह, पृ0 348

■ ■ ■

भूमंडलीकरण के दौर की कविता में लोक- जीवन

डॉ. शमा खान
शोध निर्देशक एवं सह– आचार्य
राजकीय कन्या महाविद्यालय अजमेर
(सम्बद्ध महर्षि दयानंद सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर)

सौम्य
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
महर्षि दयानंद सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर

'लोक' का तात्पर्य है– जनता, सामान्य जन. जनता विकसित और नागर संस्कृति से अलग–थलग पड़ी रहती है। इसके बावजूद उसके जीवन मूल्य हमारी धरोहर हैं। जनजीवन की आस्था, संघर्ष, उनका परिवेश तथा विरह गाथा, लोक जीवन के कटूक्ति और सरस अनुभव, लौकिक–अलौकिक कार्य–व्यापार आदि मानवीय सहज संवेदना से युक्त होकर मानव समाज की अमूल्य धरोहर बन जाती है। आधुनिक सभ्यता के तामझाम से दूर अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली तथाकथित अशिक्षित एवं अपसंस्कृत जनता का जीवन लोकजीवन कहलाता है यानी उन लोगों का जीवन जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी स्थिति में परिवर्तन चाहते हैं। लोक साहित्य के लिए अंग्रेजी में 'फोक लोर' या 'लोक लिटरेचर' का प्रयोग किया जाता है। लोक जीवन की बात करते समय लोक कथाओं का अपना विशेष स्थान है। दादी–दादा, नाना–नानी की कहानियां बच्चों को असीम आनंद प्रदान करती हैं। कुछ लोक कथाएं लोगों की आस्था से जुड़ी होती हैं। व्रत– उपवास के मौके पर देवी–देवताओं की कथाएं कहीं जाती हैं। त्रिलोकी नाथ की कथा या सत्यनारायण की कथा से हम सभी परिचित हैं। जाड़े की रातों में बड़े बुजुर्ग रोचक कहानियां सुनाकर बच्चों का मनोरंजन किया करते थे। खेतों में पशुओं को चराने वाले चरवाहे किसी वृक्ष की शीतल छांव में छोटी–छोटी कथाओं से समय बिताया करते थे। लोक– जीवन लोक कथाओं से पूरी तरह अनुस्यूत था।

वैश्वीकरण के आगमन से लोगों के जीवन में पश्चिमी सभ्यता बलवती होती गई है। हमारी परंपरागत संस्कृति का क्षरण होता गया है। घर परिवार की संयुक्त व्यवस्था चरमराने लगी। बच्चे माता–पिता से अलग होकर रहने लगे। नगरीकरण और औद्योगिकीकरण के परिणाम स्वरूप पति–पत्नी दोनों कामकाजी हो गए तथा बच्चों के लिए लोक कथाएं दुश्वार हो गई हैं। कान्वेंट की शिक्षा तथा स्कूल बैग्स ने इनकी मुस्कान छीन ली। ये दादी नानी के लाड़ प्यार तथा उसकी कथाओं के बजाय टॉम एंड जेरी के बीच उलझ गए हैं. टीवी ने अनेक कार्टून चौनल उपलब्ध करा दिए हैं। अब एक अबोध शिशु टीवी और मोबाइल का क्रेजी हो गया है। वह खेलना कूदना भूल गया। भूमंडलीकरण ने लोक जीवन को पूरी तरह बाजारी जीवन में परिवर्तित कर दिया है। वैश्वीकरण ने लोक जीवन के प्रत्येक पहलू पर कुठाराघात किया है। आज का मनुष्य लोक जीवन को नकारने लगा है। अब वह धनबल के पीछे भाग रहा है यद्यपि उनकी यह चाह फलीभूत भी हुई हैय लेकिन जिंदगी की दौड़ में वह अपनी परंपरागत विरासत और धरोहर को छोड़ चला है। आदमी संवेदनहीन होकर कृत्रिमता के आवेश में जीने लगा है।

भूमंडलीकरण ने लोक जीवन और लोक संस्कृति के सामने एक नई चुनौती प्रस्तुत की है। इसके प्रभाव से जनमानस एक दूसरे से कटने लगा है। आधुनिकीकरण ने लोक जीवन एवं लोक कथाओं को झकझोर दिया है। सामूहिकता का ह्रास, विशेषीकरण के प्रभुदय और जीवन के पक्षों के के अंतरावलंबन के बदलते स्वरूप ने लोक संस्कृति और लोक कला के प्रकार्यों को ही बदल दिया है। मनोरंजन के नए साधन विकसित हुए। पूंजीवादी संस्कृति ने लोक कलाओं एवं संस्कृति पर प्रबल प्रहार किए हैं। आर्थिक क्रांति ने उत्पादन का स्वरूप तो बदला ही साथ ही उत्पादन से जुड़े परंपरागत मूल्यों को भी अस्त–व्यस्त कर दिया है। सामान्य उत्पादन में अंतर्निहित सौंदर्य चेतना क्षीण हुई और उपयोगितावाद ने उसके सृजनात्मक पक्षों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। आधुनिक सभ्यता के मुष्टि प्रहार से जर्जर हो रहे लोकरंजन के बिखराव का 21वीं सदी के हिंदी काव्य ने अवगाहन किया है। रिश्तो की जमीन में वैश्वीकरण के

कारण किस प्रकार लोरी– कहानी एवं लोक साहित्य का विलोपन हो रहा है, इसका विश्लेषण हरजेंद्र चौधरी करते हैं–

मेरी मां

मेरा अकेलापन

लोरी कहानी

किताबें

मैं

हम सब

बड़े बेआबरू होकर

निकल जाते हैं बाहर बच्चों के कूचे से

जैसे ही टेलीविजन होता है ऑन[1]

दादा दादी के हितोपदेश अब बच्चों को प्राप्त नहीं है. बचपन और अल्हड़ता नष्ट हो गई है। तमाम भौतिकता के बावजूद बचपन और लड़कपन खाली– खाली सा है. यतींद्र मिश्र दूध– भात की बजाय पिज्जा– बर्गर और नूडल्स के आने से सशंकित हैं। लोक संस्कारों को लेकर कवि चिंतित नजर आता है। वह कहता है–

इस दुनिया में तमाम दुनियावी चीजों के बीच

न अब चंदामामा है

न उनके पास हमें देने के लिए

दूध भात की कटोरी

हमारे सपनों में अब सुनाई नहीं देती बचपन की आवाजें

हितोपदेश, पंचतंत्र की बातें

कितना हित और उसके लिए उपदेश

नींद टूटती नहीं

होश न रहने से टूट रहा परिवेश[2]

लोक की व्यापकता में हमारा जीवन खुशहाल होता है. लोक हमारे बीच प्राण के रूप में स्वीकृत होता है। भाव और संवेदन की अदृश्य दुनिया को थाती की तरह संभालने का काम लोक जीवन करता है। बाजार के इस वर्चस्व में हलकान होते सांस्कृतिक, लौकिक पक्षों को इस दौर के कवियों ने उभारा है। परिवेश की यांत्रिकता, आदमी की विवशता और गमजदा माहौल को विश्वनाथ प्रसाद तिवारी अपनी कविताओं में स्पष्ट करते हैं। होली– दिवाली और बिरहा– चौती को सहेज लेने की कोशिश करते हुए वे दिखाई देते हैं। लोक जीवन का विवेचन तिवारी जी गाँव गँवई रूप में ही करते हैं–

भूल गया मैं / बिरहा– चौती

होली– दीवाली / मेला ताजिया

खेत की हरियाली / मुझे याद आया

सीमेंट और कंक्रीट का / अपना पुख्ता शांत शहर[3]

कवि जब अपने पैतृक गांव पहुंचता है तो वहां उसे वह कुछ भी देखने को नहीं मिलता जिसे छोड़कर वह शहर की ओर भागा था। भूमंडलीकरण ने आज गांव को ही शहर बना दिया है। वह देखता है कि सब भागम भाग में व्यस्त हैं। किसी को भी एक दूसरे की खैरियत जानने का वक्त नहीं है। समयाभाव ऐसा कि बात बतकही, ठहाके, हँसी– ठिठोली सब विलुप्त हो गए हैं। विचार एवं जिज्ञासा का संदर्भ लोक जीवन में बिल्कुल दिखाई नहीं देता। भगवत रावत ने लोक जीवन के अस्ताचल होते विवेचन को वाणी दी है– सबको भागमभाग मची है / रचना बसना दूर

एक पल हाथ मिलाना नहीं चाहते

दूर– दूर से ही मिलते हैं / अपने गांव मोहल्ले के

अनपढ़ लोगों के दिख जाने पर / भले आदमी

कटने की कोशिश में / कितना चक्कर खाते[4]

लोक जीवन का यथार्थ चित्रण नीलेश रघुवंशी की कविताओं में उभरता है। अपने जीवन से कवि का रिश्ता कितना गहरा होता है, इसका विवेचन इस दौर की कविताओं में प्राप्त होता है. हमारे जीवन में व्याप्त किंवदंतियाँ, मुहावरे, कहावतें है आदि को भी कवियों ने बटोर लिया है. घर से निकलते समय शुभ मुहूर्त का विचार और दही गुड़ आदि खाने की परंपरा अब लुप्त हो गई है–

कितने शुभ मुहूर्त में दही गुड़ खाकर देहरी पार की थी

और अब तो बनते काम भी बिगड़ेंगे

इसलिए सड़क किनारे खड़ा आदमी

प्रतीक्षा में है कि पार कर जाए कोई उससे पहले रास्ता

अपने हिस्से की सारी मुसीबतें, भयावह अंदेशे और अपशकुन

किसी और के हवाले कर, निकले फिर भी वह

बिल्लियां काटती है रास्ता बार—बार[5]

लोक जीवन में लोकगीतों का भी विशिष्ट स्थान है। इन लोकगीतों में जीवन के अनेक व्यापार जैसे खान—पान, रहन—सहन, पारिवारिक सामाजिक संबंध, पारिवारिक मंत्रणाएँ, अनुशासन, नोकझोंक, लुकाछिपी, रूठना मनाना तथा अनुराग— वैमनस्य गूँजते हैं। नगरीय जीवन बोध में अब धीरे—धीरे अकेलापन घुस रहा है। आज के जीवन में साज—सज्जा एवं बनावटीपन का बाजार, जीवन की अल्हड़ता भी छलकती है। मानव की सहजानुभूतियों से सृजित लोकगीतों का स्थान नए वाद्य यंत्रों एवं फिल्मी गीतों ने ले लिया है। शहनाई के बजाय ब्रास बैंड और डीजे की धुन पर वधू नाचने लगी है। विवाह गीत, मंगल गीतों का स्थान रेडीमेड गीतों ने ले लिया है। मदन कश्यप अम्मा द्वारा गाए जाने वाले इन लोकगीतों का पुनर्स्मरण करते हैं—

तीज त्योहार से जतसार तक के असंख्य गीत

पसीने की गंध और पिसते आटे की खुशबू से सने गीत

माँ की आँखों में गीतों का महासमुद्र था जैसे

दुःख को भी गा लेती थी माँ

अनुष्ठानों की चोबों पर शामियाने की तरह तना था उसका जीवन

एक— एक अनुष्ठान के लिए कई कई गीत

और कई कई अनुष्ठानों के लिए एक ही गीत

गीतों के अद्‌भुत समुच्चय थे माँ के पास [6]

अम्मा के कंठ से फूटे सुरीले लोकगीत हों या मिथिलांचल (बिहार) में औरतों द्वारा हाथ से बनाए गए कोहबर। इन सब पर पूंजीकामी तंत्र का तीखा वार हुआ है। बिहार के एक क्षेत्र विशेष (मिथिला) में चावल को पीसकर माटी की दीवार पर जो लोक चित्र उकेरे जाते हैं, उन्हें कोहबर कहा जाता है। रति और कामदेव की छवियों का चित्रांकन करते समय लोकगीतों की सुमधुर ध्वनि मिथिला के घर— घर में गूंजती रही है। यह अश्लीलता नहीं, बल्कि लोक अभिव्यक्ति के व्यंजक स्वरूप होते हैं। गांव की सादगी, शालीनता एवं लोक संस्कृति को सहेजने की कोशिश रमण कुमार सिंह करते हैं—

यहाँ किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी का रंग नहीं है

और न ही है किसी अंतरराष्ट्रीय चित्रकार की तूलिका

जिसकी पेंटिंग बिकती है ऊँची बोली पर

बाजार में हाथों—हाथ

घरेलू रंगों की सादगी और

अपनी मोहक मुस्कान से

कोहबर लिखती औरतें लड़ रही हैं

लोक संस्कृति की एक जरूरी

और निर्णायक लड़ाई[7]

व्यक्ति के साथ—साथ पशु—पक्षी भी ग्रामीण संस्कृति की बजाय पूंजीकामी जीवन को पसंद करने लगे हैं। छत पर फलों में चोंच मारने वाला तोता भी फिल्मी गाने न सुन पाने के कारण खोया खोया सा रहने लगा है। 'इस बार छठ' कविता में निलय छठ पर्व के आधुनिक रूप पर कटाक्ष करते हैं। अब तो छठ मैया के गीत कैसेट और सीडी से बजाए जाते हैं। पूजा पद्धति का परंपरागत रुप खोता जा रहा है। घाट किनारे की साज—सज्जा परंपरागत फूलों पत्तों के बंदनवार की बजाय टिमटिमाती विद्युत नदियों और बनावटी फूलों से की जाती है यद्यपि पहले से यह ज्यादा चमकीला और भड़काऊ है परंतु इसमें देसीपन गायब है. इसे 'मास संस्कृति' का भी नाम दे सकते हैं—

इस बार छठ में / जाने क्या हुआ कि नहीं मिला

टी सीरीज का, छठ गीतों वाला

अनुराधा पौडवाल का कैसेट / भाभी ने न कहा

और नहीं गई घाट पर, बहनें

गई और नहीं गाया कोई भी गीत

माँ और दादी के स्वर जैसे विलाप में तब्दील हो गए थे

किसी अदृश्य बहेलिये के तीर से बिंधा रहा, छठ गीतों में

फलों पर मंडराने वाला तोता

सब कुछ जाने कहाँ गुम हो गया

व्रत और उपवास में प्रवेश कर रही है ढेर सारी चीजें[8]

भूमंडलीकरण के इस दौर ने लोक जीवन को लील लिया है। वह धीरे–धीरे पाश्चात्य संस्कृति को हम पर लाद रहा है। लोक जन कल्पना और प्रहसनों में भी दुःख और आत्मपीड़क दृश्यों को नहीं देख पाते। उनकी संवेदना ऐसी है कि जब तक राम वनवास में है, विदूषक उन्हें हँसाये रखने का उपक्रम करता है ताकि अपने आराध्य के कष्टों से दर्शक व्यथित न हो। यह हमारे लोक राग का वह पक्ष है जो मनोरंजन के साथ हृदय को झंझोड़ता है और संवेदना को जीवंत बनाए रखता है। इससे इतर आधुनिक मनोरंजन कहीं अधिक आकर्षक और ग्लैमरस जरूर होते हैं लेकिन यह संवेदनात्मक स्तर पर शून्य होते हैं। सवाल लोक जीवन में हो रहे परिवर्तनों का नहीं है बल्कि हमारे बीच बढ़ रही दूरियों का भी है। भाईचारे की जर्जर होती डोरी को लेकर मनोज कहते हैं–

नौटंकी के खेल में / जलेबी और बताशे के पास

भिनकेंगे बच्चे / जार्चट की साड़ी में

दमकती सुहागिनों के झुंड में / धूम मच जाएगी

टिकली रिबन और बिंदी की

जोकर जोशी का भेस धरे

सबको तब तक हँसायेगा / जब तक

चौदह बरस बनवास के बाद / कुशल कुशल

घर लौट नहीं आते राजाराम[9]

भूमंडलीकरण, अर्थ नीति और पूंजीकामी संस्कृति पर सीधे चोट करती कविताएं युग परिवेश को प्रस्तुत करती हैं। चारों और पाश्चात्य संस्कृति का झंडा लहरा रहा है। कंप्यूटर, टीवी, इंटरनेट, मोबाइल, फेसबुक, व्हाट्सएप, ट्विटर आदि ने हमें एक ऐसे युग में धकेल दिया है, जहाँ लोक जीवन का कोई काम नहीं है। यहाँ तो केवल पूँजीवादी और वैश्विक मानसिकता को ही प्रश्रय प्राप्त है। लोक जीवन के ध्वस्त होने की दशा को कुमार अंबुज ने चित्रित किया है–

टेलीविजन, सिनेमा और अखबार भी

रोज एक ही दुश्वारी में डालते हैं

टूथपेस्टों, ब्लेडों, साबुनों और जूतों ने भी

मुसीबत में इजाफा ही किया है

एक जैसी पूंजी है, एक जैसी दास प्रथा

चारों तरफ हैं एक सी तस्वीरें

एक सी दिशाएँ

ऊब और आशंकाओं की आहट से भरी हुई

एक ही सूचनाओं और एक से ज्ञान के बीच[10]

बद्रीनारायण ने अपनी कविताओं में लोकजीवन को जिंदा रखा है। वे अपने आख्यानों और स्मृति में गांव घर की प्रत्येक चीज को जिंदा रखते हैं. बद्रीनारायण बाजारवाद और वैश्वीकरण के दौरान खोते जा रहे देसी जीवन को बचाने की गुहार लगाते हैं–

अपने आख्यान के केंद्र में उस चींटी को रखना चाहता हूं

जिसने एक दिन पर्व, त्यौहार पाक साफ नहीं किया था ख्याल

और गृहस्थिन की आंखों के सामने

अपने टूंढ़ पर गेहूं का ढोंका उठा ले गई थी[11]

नव पूंजीवाद, वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण की जटिल व्यवस्थाओं ने बाजार का जो चेहरा निर्मित किया है, वह असंवेदनशील है। उसमें उत्साह, शोक, हर्ष– विषाद का कहीं भी नामोनिशान नहीं है। आज हमारा परंपरागत समाज लड़खड़ाने लगा है और दिन प्रतिदिन पश्चिमी संस्कृति हम पर हावी हो रही है। मदन कश्यप इस बाजारीकरण की सभ्यता को 'गला काट' संस्कृति कहते हैं. वे लोक जीवन का विवेचन बड़ी विशिष्टता से 'थोड़ा सा फाव' कविता में करते हैं–

अक्सर फाव देते हैं वैसे लोग

जो महज बीच के विक्रेता नहीं होते

वे खेतों में स्वयं उगाते हैं फल सब्जियां
तालाब से निकालते हैं सिंघाड़े– मखाने
पर बाजार की गलाकाट संस्कृति से एकदम अलग
जब उन्हें सौंपते हैं किसी क्रेता को
तो किसी वस्तु के बेचने की नहीं
श्रम और पसीने की रचना को विदा करने का भाव होता है
वे डाल देते हैं झोले में थोड़ा सा फाव
जैसे विदा होती बेटी के खोंइचे में
माँ बांध देती है थोड़ा सा अन्न– द्रव्य
यह थोड़ा सा / थोड़ा सा नहीं होता है[12]

इस प्रकार इस भूमंडलीकरण के दौर में कविताओं ने लोक जीवन को बचाने की भरसक कोशिश की है। इन कविताओं में लोक व्यवहार और लोक जीवन के विविध रूप बाजारीकरण को नकारते हुए प्राप्त हुए हैं। लोक जीवन के अनेक तत्वों का आज व्यापार होने लगा है। चाहे वह त्यौहार हो, गीत हो, रिश्ता हो या खेत गांव ही क्यों न हो. वैश्वीकरण का संक्रमण देसी जीवन को नष्ट करके बाजारवाद को स्थापित करने पर तुला हुआ है। भूमंडलीकरण ने भले ही आज हमें एक–दूसरे के नजदीक ला दिया है। पर उसने हमारे देशी जीवन, लोक संस्कृति को लील लिया है. भूमंडलीकरण के दौर की कविताओं में लोक जीवन और संस्कृति के प्रति एक विशेष चिंता प्रकट की गई है।

संदर्भ :

1. 'जैसे चांद पर से दिखती धरती'– हरजेंद्र चौधरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ– 26
2. 'ड्यूटी पर आलाप'– यतींद्र मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 43–44
3. 'कवि एकादश'– संपादक लीलाधर मंडलोई, अनिल जन विजय, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2008, पृष्ठ– 186
4. 'अम्मा से बातें और कुछ लंबी कविताएं' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ– 50
5. 'पानी का स्वाद'– नीलेश रघुवंशी, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ– 54
6. 'नीम रोशनी में'– मदन कश्यप, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2014, पृ– 14
7. 'बाघ दुहने का कौशल'– रमन कुमार सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 35
8. 'कटौती'– निलय उपाध्याय, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000 पृ–18
9. 'सुलगा हुआ राग'– मनोज मेहता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सन 2004, पृ–35
10. 'अतिक्रमण'– कुमार अंबुज, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ 60–62
11. 'खुदाई में हिंसा'– बद्रीनारायण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृष्ठ– 11
12. 'कुरूज'– मदन कश्यप, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ 39–40

■ ■ ■

नासिरा शर्मा के कहानियों में स्त्री चेतना

प्रो. अनिल कुमार विश्वकर्मा
शोध निर्देशक, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल पी0जी0 कालेज, बाराबंकी

लक्ष्मी विश्वकर्मा
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल पी0जी0 कालेज,बाराबंकी

नासिरा शर्मा हिन्दी साहित्य की बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न लेखिका हैं। समकालीन कथा–साहित्य में नासिरा भार्मा एक विवादास्पद लेकिन महत्वपूर्ण कथाकार हैं। जिन्होंने हिन्दी कथा साहित्य में अपनी रचनात्मक कृतियों से विशिष्ट पहचान दर्ज की है। स्त्री विमर्श के संदर्भ में प्रायः मन्नू भण्डारी, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी, ममता कालिया आदि की चर्चा की जाती है। पर नासिरा शर्मा का लेखन सम्बन्धी कैनवास उपर्युक्त स्त्री रचनाकारों की अपेक्षा व्यापक है, इसका कारण उनके यहाँ हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज, ईरान, इराक एवं पाकिस्तान में नारी पात्रों का संघर्ष रूपायित होता है। जहाँ उन्होंने रहकर बड़े ही निकट से उनके संघर्ष एवं मनोभावों को देखा–परखा है। विभिन्न जाति–समुदाय वर्ग एवं वर्ण की नारियों का संघर्षशील जीवन उनके कथा लेखन की मुख्य धुरी है। जबकि अन्य स्त्री रचनाकारों का अनुभव की गई भावाभिव्यक्ति जाहिर होता है। 'शाल्मली' नासिरा शर्मा का एक ऐसा विशिष्ट उपन्यास है, जिसकी ज़मीन पर नारी का एक अलग और नया रूप ही उभरा है। 'शाल्मली' इसमें परम्परागत नायिका नहीं है, बल्कि वह अपनी मौजूदगी से यह अहसास जगाती है कि परिस्थितियों के साथ व्यक्ति का सरोकार चाहे जितना गहरा हो, पर उसे तोड़ दिए जाने के प्रति मौन स्वीकार नहीं होना चाहिए।''[1]

नासिरा शर्मा के कथा साहित्य की स्त्री पात्र चेतनाशील हैं। वे केवल सहनशीलता की प्रतिमूर्ति नहीं हैं, बल्कि अपने प्रति हुए अन्याय एवं अत्याचार का विरोध करती हैं। इनकी कहानियों की सभी पात्र सलमा, सकीना, फरजाना, साजदा, आसिया, जोहदा, पाशा, सूसन, शन्नो, निगार तथा सोना है। जो जीवन के विषम परिस्थितियों में भी हार नहीं मानती हैं, तथा अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती हैं। 'शामी कागज' की नायिका पाशा शौहर मोहसिन के गुजर जाने पर जब उसके चचा का बेटा महमूद उससे दूसरी शादी करने के लिए कहता है तो वह कहती है– ''मैं अपने जिस्म से मोहसिन का हर लम्स मिटा दूँ। हर वह स्पर्श जो मुझे जीना सिखा रहा है, उसे पोंछ डालूँ....... जब मैं दिल और दिमाग़ से उसे नहीं मिटा सकती तो फिर जिस्म से उसे क्यों मिटाऊँ, क्या मजबूरी ?''[2] इस प्रकार पाशा अपने प्यार, अपने शौहर की उन बेशकीमती यादों को अपने दिल में सँजोये रहती है तथा नर्सरी में पढ़ाना शुरू करती है। वहीं 'खुदा की वापसी' कहानी में लेखिका ने मेहर (स्त्रीधन) की समस्या को उजागर किया है। जिसमें फरजाना से उसका पति जुबैर पहली रात में धोखे से मेहर माफ करवा लेता है, किन्तु जब फरजाना को असलियत पता चलती है तो वह जुबैर से नफरत करने लगती है तथा जुबैर के लाख मनाने पर भी वह अपने सुसराल को छोड़ मायके चली आती है।

महिला साहित्यकार होने के नाते नासिरा शर्मा ने महिलाओं की यथार्थ दशा, उनकी मानसिकता, उनके अधिकारों का जितना सूक्ष्म वर्णन किया है उतना शायद ही कोई पुरुष साहित्यकार कर सके। अतः स्त्रियों से सम्बंधित विविध समस्याओं का उद्घाटन उनके साहित्य में दृष्टिगत होता है। नासिरा जी ने केवल समस्याओं का उद्घाटन ही नहीं किया हे, अपितु उन समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया, जो निश्चय ही सराहनीय है। ऐसे ही उनकी 'तक्षशिला' कहानी को लेते हैं। जिसकी नायिका 'निगार' दैनिक समाचार पत्र में काम करती है। उसी के ऑफिस का अंसारी बदतमीजी करता है तो वह अपने पति परवेज से जब इस बारे में बताती है तो परवेज उसे ढ़ांढस एवं साहस देकर तक्षशिला के तस्वीर के पास ले जाकर समझाता है– ''औरत खुले आसमान के नीचे अपनी पहचान बनाने में व्यस्त है। यह संघर्ष बहुत सुन्दर है। जैसे इस तस्वीर का वातावरण, रंग और आसमान। मगर उस संघर्षरत औरत के नीचे अभी सख्त जमीन नहीं है.......। आज की औरत के पास न छत है, न जमीन सिर्फ दीवारें...... सिर्फ दीवारें हैं........ उन पर छत

कौन डालेगा...... क्या कोई मर्द? तब वही शोषित बेचारी औरत होगी.......। औरत को यह काम स्वयं करना होगा। मर्द तो अपना हथियाया अधिकार इतनी जल्दी वापस नहीं करेगा। निगार, इन दरिन्दों, इन हब्शी भेड़ियों से यूँ डरकर कहाँ तक भागोगी ?''[3]

लेखिका ने अपनी कहानी पात्रों के माध्यम से औरत में साहस, स्फूर्ति भरने के साथ–साथ ऐसे लोगों से कैसे निपटना चाहिए, यह बताने की कोशिश की है। अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने के लिए प्रोत्साहित किया है। ऐसे ही उनकी एक और कहानी 'मेरा घर कहाँ ?' को लेते हैं। जो लाली धोबिन की बेटी सोना की कहानी भी बड़ी ही मार्मिक एवं संघर्शपूर्ण है। सोना का पति नन्कू जब उसे मार–पीटकर घर से बाहर निकाल देता है तथा बाद में दूसरा विवाह करने जाता है तो सोना बौखलाकर मारे गुस्से में उसका सेहरा और गले का माला तोड़ फेकती है तथा पैरों की चप्पल उतार सर और पीठ पर पीटती है। जब नन्कू को उसका कोई परवाह नहीं रहता तथा दूसरा विवाह कर लेता है तो वह अकेली जीना सीख जाती है तथा ढ़ाबा खोल लेती है। सुबह चाय तथा दोपहर में आलू गोभी की सब्जी–रोटी बनाती है। जब परात में बचे दो लोई की रोटियाँ अपने लिए बनाती है तो सुख की असीमित सागर सीने में लहराता है। उसका खूबसूरत चेहरा देखकर अक्सर मजदूर उसके संग ब्याह रचाने को कहते तो वह खूब हँसती और फिर भ्रान्त होकर पूछती– ''एक रोटी और ले ले ताकि फजूल बातों के लिए जगह न तेरे पेट में बचे न दिमाग में..... मजदूर खिसियाकर उठ जाता और सोना जमीन पर थूक देती जैसे कह रही हो कि इस दुनिया के हर कोने पर मर्द खड़ा मिलेगा, कभी प्रेमी के रूप में तो कभी बलात्कारी के रूप में। मगर जो पति ढूँढ़ने निकलो तो एक भी कायदे का आदमी नजर नहीं आएगा, जिसके साथ उम्र एक छत के नीचे गुजार दी जाए।''[4]

नासिरा शर्मा ने एक से बढ़ कर एक उत्कृष्ट, सशक्त एवं चेतना से युक्त कहानियाँ लिखकर हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बनाया हैं। इनकी कहानियाँ नारी अस्मिता एवं चेतनाशीलता का उदाहरण पेश करती हैं। नारी–जाति की त्रासदी की मर्मान्तक कहानियाँ अपना एक अलग मुकाम कायम करती हैं। स्वयं को टुकड़े–टुकड़े में बाँटना और अंत में दम तोड़ना नारी की नियति बन गयी है। हर घर नारी के लिए रूढ़ियों के कटघरे हैं। उनसे बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं सूझता। वे रूढ़िवादिता की बेड़ियाँ तोड़ना चाहती हैं, खुली हवा में साँस लेना चाहती हैं, पर बन्धनों ने उनके पर काट दिये हैं। ऐसी ही कितनी असहाय, बेबस, बेसहारा स्त्रियों के दुःख–दर्दों को लेखिका ने अपने कहानी का आधार बनाया है तथा उनके बन्धनों को काटकर, समस्याओं का समाधान देती हुई मार्ग बनाती हुई, कहानी को आगे बढ़ाती हैं। जहाँ इनकी कहानियाँ अपने आपमें एक स्थान बनाये हुए हैं। कहना पड़ेगा कि नासिरा का कहानी संसार मुख्यतः नारी के प्रति असमानताओं, उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने ढंग से नारी अधिकारों को सच करने के लिए लड़ा जा रहा एक अनवरत युद्ध है। नासिरा शर्मा के कहानियों के बारे में सुप्रसिद्ध कहानीकार उपेन्द्रनाथ अश्क कहते हैं– ''नासिरा शर्मा में कथा कहने की जन्मजात प्रतिभा दिखाई देती है। उनके पास अनुभवों की कोई कमी नहीं है, अनुभूतियों का भंडार है। अपने पात्रों का गहरा विश्लेषण करने की क्षमता है। शैली बहुत रवाँ दवाँ, भाषा सरल, सुलभ, प्रवहमान है। उसमें काव्य का रस है।''[5]

'गूँगा आसमान' कहानी संग्रह में प्रकाशित गूँगा आसमान कहानी अपने आप में एक सफल कहानी है। जिसमें एक औरत को एक दूसरी औरत के खिलाफ खड़ा करने का शडयंत्र एक पुलिस अफसर करता है। फरशीद एक हवशी किस्म का एक अधेड़ इंसान है। उसकी ब्याहता पत्नी मेहरअंगीज़ के होते हुए वह असहाय, लाचार बेसहारा लड़कियाँ, और विधवाओं को जबरदस्ती उठवाकर उनसे निकाहकर उनकी मजबूरी का फायदा उठाता है। वो लड़कियाँ माहपारा, शबनूर और दिलाराम थी। जिनमें से माहपारा का मियाँ अब्बास खुर्रम की हत्या हो जाती है और पुलिस अफसर होने के नाते फरशीद उसे उठवा लाता है। शबनूर और दिलाराम तो एक दम मासूम थीं। पिता के मरने के बाद वह इन मासूम लड़कियों को अगवाकर काबू में कर लेता है। मेहरअगीज़ पति की इन हरकतों में बर्दाशत नहीं करती और एक दिन इन मासूमों को घर से निकालकर

अपने भाई से माहपारा को निकाह तथा दोनों लड़कियों का निकाह चचा के लड़के अब्बास और हैदर से करवा देती है। पकड़े जाने पर उसका पति कुछ लड़कियों को लाकर धंधे करवाने के झूठे जुल्म में बदनाम करता है। ''मेहरअंगीज़ चुपचाप सारे ताने सुनती रहीं। अन्दर–अन्दर खुश थी कि वह बदनाम हुई तो क्या, गुनहगार तो नहीं है वह। उसने जुल्म के पंजे से किसी को निजात दिलाई, यह क्या कम बहादुरी का काम है ?''[6] मेहरअंगीज़ ने इस तरह अपने पति के खिलाफ जाकर उन बाकी लड़कियों और औरतों को बचाया।

इनकी कहानियों में स्त्री की भावनाओं और संवेदनाओं का इतना मार्मिक चित्रण है कि पाठक उनकी कहानियों में स्वयं की झलक देखता है। ''नासिरा की कहानियों में खुशबू है, यादें हैं, सहमी हुई खामोशी है, सिमटे हुए सपने हैं, चांदनी बिखेरती आँखों में अफसुरदा नींदें हैं और कई पड़ावों में ठहरी हुई ध्रुवहीनता में घूम रही सोच के दायरों में परिवर्तनशीलता की मंजिल का रास्ता तलाश करती हुई मान्यताएं हैं और प्रेम की बगिया में खिले–खिले पुष्पों की सुगंध और कांटों की चुभन है, उनके अहसास के गले में सुरों का कंपन और लय का वास है।''[7]

'संगसार' कहानी आसिया की है जो शादी बाद अपने पति अफज़ल से शारीरिक सुख से वंचित रहती है। माँ और बहन आसमा के लाख समझाने पर वह उनकी बात नहीं मानती है, और अपने प्रेमी से बराबर मिलती रहती है। ''मर्द सीगा भी करेगा, ब्याहता के रहते दूसरी शादी भी करेगा और बाहर भी जाएगा, उसे कौन रोक सकता है भला? लोग थू–थू भी करेंगे तो फर्क नहीं पड़ता; मगर औरत यह सब करेगी तो न घर की रहेगी न घाट की। दूसरी शौहर करना तो दूर, किसी से आशनाई भी हुई तो दुनिया उसे हरामकारी और मज़हब उसे ज़नाकारी कहेगा।''[8] अपने मज़हब में बनाये गये इस दोगले नियम कानूनों का वह विरोध करती है। तथा अपनी जिन्दगी अपने मर्जी से आशिक के साथ जीती है। बाद में भले ही चाहे जो परिणाम हो।

इस प्रकार नासिरा शर्मा ने हिन्दी साहित्य में एक से बढ़कर एक सशक्त कहानियाँ दी हैं। नासिरा ने 'स्त्री विमर्श' के कोश को समृद्ध बनाने में अद्वितीय योगदान दिया है। अपनी कहानियों के माध्यम से भी वह इस आधी दुनिया को उसके मनुष्य होने का दर्जा दिलाने की लड़ाई है। अपनी कलम की धार से वह असंभव से असंभव स्थिति को भी अपनी विचारधारा के प्रति सचेत करती हैं तथा उन्हें लड़ने की प्रेरणा देती हैं। जिससे वे अपने अधिकार, स्वतंत्रता, मान–सम्मान, समाज में पहचान तथा आर्थिक रूप से सबल हों। जब तक स्त्री स्वयं विचार–विश्लेषण नहीं करेगी तब तक उसे पुरुष द्वारा प्रस्थापित व्यवस्था के अनुसार ही जीवन बिताना पड़ेगा। नासिरा जी की कहानियों की नायिकाएँ अपने व्यक्तित्व में मुखरित हैं तथा वे समाज में बराबर अधिकार के लिए प्रयत्नशील हैं। स्त्री विमर्श ने पितृसत्तात्मक समाज के अंतर्विरोधों को सामने रखा है तथा उनका विखण्डन भी किया है। आज स्त्रियों ने अपनी बरसों की खामोशी को तोड़ा तथा प्रश्नानुकूलता के साथ अपनी चुप्पी को तोड़ दी है।

नासिरा शर्मा रूढ़ियों, परम्पराओं तथा सामाजिक बंधनों से मुक्ति पाने के लिए अपने घरों को तोड़कर, परिवारों को बिखेर कर स्वतंत्रता की तरफदारी नहीं करती है। बल्कि वह परिवार को टूटने से बचाकर भावों और विचारों में तालमेल बिठाकर ही स्त्रियों की स्वतंत्रता चाहती हैं। यह अलग बात है जब विपरीत परिस्थितियाँ आ जायें तो वह अपने हित के लिए ही फैसला ले। मगर जब तक हो सके परिवार को बचा लें। क्योंकि स्त्री को हर मोड़ पर पुरुषों से टकराना है, वह कहाँ तक भागें फिरेंगीं।

''नासिरा जी से अक्सर अनेक मुद्दों पर खुली चर्चा हुई है। वे आधुनिकता के नाम पर स्त्री स्वच्छंदता के पक्षधर नहीं हैं। वे हर हाल में विवाह और परिवार को बनाए रखने में विश्वास रखती हैं, अगर एक बार ये आधार खंडित हो गए तो नई पीढ़ी फैशन के नाम पर अनेक विकृतियों और असाध्य रोगों की शिकार हो जाएगी, जिसका प्रभाव समाज पर दूरगामी रूप में स्वस्थ नहीं होगा। इसीलिए उनके नारी पात्र आधुनिक होते हुए भी उच्छृंखल नहीं हैं।''[9] कहना न होगा कि नासिरा शर्मा का कथा साहित्य मानव मूल्यों, विशेषकर नारी मन को उकेरता है। जिसमें स्त्री–पुरुष सम्बंधों, पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की दशा–दुर्दशा स्त्री

विमर्श का ईमानदारी पूर्वक किया गया चित्रण है। इनकी कथा साहित्य में विद्रोह की परम्परा भी विकसित हुई है। जिसका उद्देश्य है, एक व्यवस्था की स्थापना जो पूर्ण रूप से पुरुष प्रधान न हो, स्त्री पुरुष की समान भागीदारी हो, किसी का किसी पर वर्चस्व न हो, आजादी की महकती सुबह हो समाज में, और इस सुबह की लालिमा से ओत–प्रोत हो हमारा समाज तभी प्रकृति प्रदत्त इंसानियत की खुशबू से हमारा जगत सुवासित हो सकेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु नासिरा जी का कथा साहित्य महिलाओं में नई शक्ति, ललक और हिम्मत भरने की क्षमता प्रदान करता है।

संदर्भ :

1. शर्मा नासिरा, शाल्मली, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2018, फ्लैप पर
2. शर्मा नासिरा, शामी काग़ज़, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2014, पृ0 97
3. शर्मा नासिरा, सबीना के चालीस चोर, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, तीसरा संस्करण–2011, पृ0 141
4. शर्मा नासिरा, गूँगा आसमान, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, द्वितीय संस्करण–2015, 2020, पृ0 135
5. वही, कवर पेज
6. वही, पृ0 48
7. अहमद सं0– एम0 फिरोज, नासिरा शर्मा एक मूल्यांकन, सामयिक बुक्स, नयी दिल्ली, संस्करण–2017, पृ0 204
8. शर्मा नासिरा, संगसार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2017, पृ0 119
9. अहमद सं0– एम0 फिरोज, नासिरा शर्मा एक मूल्यांकन, सामयिक बुक्स, नयी दिल्ली, संस्करण–2017, पृ0 51

■ ■ ■

संजीव और शिवमूर्ति के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ0 सुधा
एसोसिएट प्रोफेसर एवं शोध निर्देशक
रमाबाई राजकीय महिला पी0जी0 कालेज,
अकबरपुर अम्बेडर नगर

शुभम कुमार
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
रमाबाई राजकीय महिला पी0जी0 कालेज,
अकबरपुर अम्बेडर नगर

संजीव और शिवमूर्ति समकालीन रचनाकारों में एक ऐसे रचनाकार है। जिन्होंने सामाजिक शोषण के सारे पहलू की छानबीन की है। साथ समकालीनों में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। संजीव के उपन्यास वर्तमान के साथ ही इतिहास और भूगोल के पुर्जे भी खोलते हैं। ये अपने उपन्यासों में अक्सर कथावाचक या मैं की भूमिका में शोषण के विरोध में खड़े होते नजर आते है। संजीव और शिवमूर्ति दोनों ग्राम्य चेतना के कथाकार है। उनके यहाँ ग्राम्य जीवन का यथार्थ जटिलताओं के साथ आया है। यहाँ वैकल्पिक समाज का सौन्दर्य अपने निकटता के बावजूद आकर्षक बन गया हैं सजीव और शिवमूर्ति के अंधिकांश उपन्यासों में स्त्री जीवन की व्यथा–कथा के साथ यथास्थितिवाद के खिलाफ उसके संघर्ष को महत्व देकर एक वैकल्पिक समाज का गहरा संकेत किया है।

संजीव के यहाँ भ्रष्ट नौकरशाही, राजनीति, व्यवस्था मजदूर संगठन और प्रबन्धक इनके लेखन में अपनी तमाम बर्बरता के साथ प्रस्तुत होते है। न्याय प्रक्रिया और पुलिस तन्त्र के सच्चाई की भी वे पोले खोलते है। संजीव सर्वहार दलित निम्नवर्ग आदिवासी और नारी की वेदना का बयान बेबाकी और संवेदना के साथ करते है।

शिवमूर्ति के यहाँ कथा साहित्य के पात्रों का ग्रामीण सामाजिक संरचना के यथास्थितिवाद के विरूद्ध परिवर्तन का संघर्ष एक नये अवसरवाद के साथ वैकल्पिक समाज के स्वप्न को साकार करने के संकल्प से सम्प्रेरित नज़र आते है। उनकी उपन्यास में समाज की यथास्थितिवादी शक्तियों के विरूद्ध समकालीन परिवर्तनकारी शक्तियों के संकल्प को समर्पित है। खुद उपन्यासकार शिवमूर्ति का आग्रह अपने कथा साहित्य को दीर्घजीवी बनाने के बजाय प्रासांगिक और समग्रता में अंकित करने के संकल्प और चिंता के साथ हमारे सामने आते हैं। शिवमूर्ति के उपन्यासों के शिल्प में भले ही लोकरंग, लोक संस्कृति के रसासिक्त बहुआयामी रूप ने मिलता हो और इसी वजह से उनके कथाशिल्प को एकांगी कहा जाता हो, किन्तु उनके उपन्यासों के केन्द्र में समाज की प्रतिरोधी शक्तियों की संघर्ष चेतना और वैकल्पिक समाज बनाने के संकल्प और स्वप्न का जो सौन्दर्य दिखता है उससे उनके उपन्यासों की शिल्प की परम्परा से हटकर एक विशिष्ट रूप झलक जाता है।

संजीव के उपन्यासों में श्रम और प्रतिरोध का सौन्दर्य सामाजिक जीवन चौतरफ दिखाई देता है। श्रम और प्रतिरोध के सौन्दर्य कों संजीव के उपन्यास बेबाकी से प्रस्तुत करते है।

संजीव की कथा यात्रा के अन्तर्गत प्रस्तुत शोध से सन्दर्भित उपन्यास किसनगढ़ के अहेरी (1981) सर्कस (1984) सावधान नीचे आग है। (1986) धार (1990) पॉव तले दूब (1995) जंगल जहाँ शुरू होता है (2000) सूत्रधार (2002) आकाश चम्पा (2008) फाँस है।

किशनगढ़ के अहेरी उपन्यास में संजीव किसनगढ़ में प्रचलित सामंती व्यवस्था वर्ण और जाति व्यवस्था अंधविश्वास धार्मिक पाखण्ड और नारी शोषण पर वार करते है।

'सर्कस' उपन्यास में संजीव ने रंगीन दुनिया के भयावह अँधेरे को दर्शाया है। रात के अँधेरे में रंगे पुते चेहरों की दमक सुबह होते ही उदासी में परिवर्तित होती हैं सर्कस में कलाकार शौक की अपेक्षा अक्सर मजबूरी में रहता है उपन्यास पूर्वदीप्ति शैली में वस्तुतः अन्त से आरम्भ होता है। उपन्यास के केन्द्र में कलाकारों की व्यथा, मोहभंग, शोषण, उपेक्षा और असुरक्षा की समस्या हैं सर्कस की जिन्दगी का वास्तविक जीवन दर्शाने वाला सर्कस हिन्दी का पहला उपन्यास है। भारतीय सर्कस चाह कर भी विदेशी सर्कस की बराबरी नहीं कर सकता क्योकिं विदेशी सर्कस में उन्हें अपने सरकारों को साथ मिलता है। परन्तु भारतीय सर्कस में ऐसा बहुत कम देखने को मिलता है।

'सावधान नीचे आग है' उपन्यास में झारखण्ड के

धनवाद जिले में स्थित चन्दनपुर गाँव के पास नाला खदान दुर्घटना को दर्शाया गया है। यह उपन्यास डायरी शैली में लिखा गया है। उपन्यास के केन्द्र में जल प्लावन की घटना है।

'धार' उपन्यास में आदिवासियों के शोषण को वर्णित किया गया है। सहकारिता के परिपेक्ष्य में मैना, अनिवास शर्मा आदि जन खदान का अन्वेषण करते है। जन खदान पूँजीवादी व्यवस्था अवैध कोल माफिया और भ्रष्ट व्यवस्था पर लिखा है।

'जंगल जहाँ शुरू होता है' इस उपन्यास में मानव द्वारा मानव के विनाश, उत्पीड़न दमन, संस्कृति के विकृत मूल्य मूढ़ता अलगावपन, टूटन, घुटन, संत्रास, भय, राजनीतिक मूल्यहीनता, अवसरवादिता, अनुशासनहीनता, भ्रष्टाचार आदि महत्वपूर्ण प्रश्नों को प्रस्तुत उपन्यास में कथ्य बनाया है। पुलिस उपाधीक्षक कुमार उपन्यास का नैरेटर और केन्द्रीय पात्र है। आपरेशन ब्लैक पाइथन के तहत उसे डाकू–उन्मूलन करने की जिम्मेदारी मिली है। मगर कुमार के भीतर उस बिन्दु को पकड़ने की भी जिज्ञासा है जहाँ से डाकू जन्म लेते है। उस आँचल में भी सत्ता समीकरण जाति से प्रभावित है। डाकू यहाँ ऊपर से थोपी समस्या नही अपितु यहाँ के प्राकृतिक सामाजिक और राजनीतिक परिवेश का उपज है। परेमा, परशुराम, नोनिया, भुवनेश्वर आदि सारे दबंग जातियों से है।

डाकू भ्रष्ट व्यवस्था से भलीभाँति परिचित है। अन्याय और शोषण को व्यवस्था खत्म करेगी इस पर उनका भरोसा नही हैं। आप बीती के तहत वे व्यवस्था से उदासीन हैं यहाँ की जनता तक पुलिस पर कम और डाकू पर ज्यादा विश्वास करती है। इसी कारण अन्यास और शोषण से त्रस्त लोग डाकूओं के पास चले जाते हैं। डाकू–गरीबों को कम सताते हैं और अमीरों को लूटते हैं। इसी कारण लोग उनसे नरम संबंध रखते हैं। जब डाकू पैंतरे चलते है तो पूरा इलाका उनका साथ देता है, पुलिस का नहीं। इसी कारण परशुराम चुनाव लड़ता है और जीतता भी है। डाकू परशुराम की जात प्रजातंत्र पर कड़ा तमाचा है।

'पाँव तले की दूब' उपन्यास में झारखण्ड आन्दोलन को केन्द्र बनाकर लिखा गया है। इस आन्दोलन के बहाने आदिवासियों के हक अधिकार के लिए चलने वाले आन्दोलनों की गम्भीर समीक्षा की है लेकिन इसकी कथा के केन्द्र में एक एक्टिविस्ट लेखक सुदीप्त है। उपन्यास का नायक सुदीप्त झारखण्ड में डोकरी स्थित ताप विद्युत संस्थान में अधिकारी है। और स्थानीय लोगों में बिजली साहब के रूप में जाना जाता है। सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण परिवार में अर्थाभाव नहीं था। माँ बचपन में चल बसी थी और भाई बहन न होने के कारण परिवार की कोई जिम्मेदारी नहीं थी। उन्होंने सामान्य लोगों पर अन्याय करने वाले पिता का विरोध किया। एक दिन पिता के हाथ उठाने के कारण, बालविवाहिता पत्नी को आजाद करते हुए हमेशा के लिए घर छोड़ा सुदीप्त में प्रतिभा कूट–कूट कर भरी हुई है। लेकिन लक्ष्य को हासिल करने के लिए दृढ़ता का अभाव है। नौकरी के बाद भी वह आंदोलन से अलग नहीं हुआ था। वह आदिवासियों को यह समझाना चाहता था कि उनकी मुक्ति की लड़ाई बाकी गरीब और शोषित लड़कों की लड़ाई से अलग नहीं है। लेकिन एक ऐसी अवस्था आती है कि वह अज्ञातवास में चला जाता है। यह उपन्यास एक आंदोलन धर्मी लेखक के वैयक्तिक अंतर्दाह को उसकी आशा–आकांक्षाओं को उसके द्वन्द्वों–तनावों के घुटन और टूटन को चित्रित करता है। इस उपन्यास में पत्र, डायरी, उदाहरण, स्वप्न आदि शैलियों का प्रयोग हुआ है। संजीव शिल्प के प्रति सजग कलाकार है। उपन्यास की सारी घटनाएँ प्रथम पुरुष शैली में सुदीप्त और उसका पत्रकार मित्र कहता है। आदिवासी और गैर–आदिवासी संघर्ष उपन्यास में दिखाई देता है। व्यवस्था के खिलाफ कभी–कभी आदिवासी संघर्ष का रास्ता अपनाते है। पर मजबूरन उन्हें परास्त होना पड़ता हैं

सूत्रधार का केन्द्रीय पात्र भिखारी ठाकुर है। प्रस्तुत उपन्यास में वर्णव्यवस्था द्वारा निर्धारित टहल–गुलामी के पेशे की पीड़ा और अपमान बोध भिखारीदास को परेशान करता रहता है, जिससे मुक्ति का रास्ता वह नाच में देखता है जिसे भोजपुरी समाज में भिखारी को अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली उसी में मौजूद जातिगत श्रेष्ठताा के सामंती दंभ से वे आजीवन उत्पीड़ित भी रहे। उनके नाटकों को देखकर तालियाँ बजाने वाला सवर्ण–सामंती समाज उन्हें नचनिया बजनियाँ से ऊपर की हैसियत देने से कतराता रहा। प्रस्तुत उपन्यास में इसी द्वन्द्व को कथ्य बनाया गया है।

'फाँस' उपन्यास में आत्महत्या करते किसानों का बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रण किया गया है। भारत में अब तक तीन लाख से अधिक संख्या में किसानों ने आत्महत्या की है। यह मानवता के इतिहास की एक भयावह त्रासदी है

और अमानवी समाज–व्यवस्था का भीषण अपराध भी। इस त्रासदी और अपराध के प्रतिरोध की प्रवृत्ति करने वाला यह उपन्यास (फाँस) प्रेमचन्द के कथा–साहित्य की प्रगतिशील परम्परा का आज की स्थिति में विकास करेगा। संजीव ने इससे पहले भी ऐसी कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। यह उपन्यास संजीव की मूलगामी और अग्रगामी कथा–दृष्टि का एक प्रमाण हैं।

शिवमूर्ति ने बहुत ही अल्प मात्रा में ही साहित्य लिखा है फिर भी कथा साहित्य में उनकी लोकप्रियता बहुत है। परन्तु उन्हें अत्यधिक उपलब्धिया मिली। साम्प्रदायिकता सामंती वर्णवादी जातिवादी और किसान समस्याओं को केन्द्र में रखकर शिवमूर्ति ने त्रिशूल, तर्पण और आखिरी छलांग तीन उपन्यास लिखे हैं। इन तीनों उपन्यासों को पढ़ने के बा पाठक को कोई आनदानुभूति नहीं होती किसी क्जासिक को पढ़ने का शांत प्रशांत गंभीर भाव प्राप्त नही होता–प्राप्त होती है तो केवल बेचैनी।

'त्रिशूल' उपन्यास उस वर्चस्ववादी हिंसक संस्कृति का प्रतीक है, जिसका शिकार दलित–पिछड़ी और अल्पसंख्यक जनता होती रही है। शिवमूर्ति ने इस वर्गो की यातना का सवाल बाबरी मस्जिद–रामजन्म भूमि मंदिर के विध्वंस, पाले की हत्या और महमूद की प्रताड़ना के माध्यम से उठाया है।

'तर्पण' उपन्यास उन लोगों के लिए है जो खुद को गैर जातिवादी मानते हैं समाज के लिए के लिए लिटमस टेस्ट की तरह है। अगर आपके मन में जरा सी भी सर्वण मानसिकता के प्रति सहानुभूति होगी तो आप तिलमिला उठेंगे जिन लोगों को लगता है कि वे जातिवादी नही है वे इस पुस्तक को पढ़कर देखें उन्हे खुद बखुद ज्ञात हो जायेगा की वे जातिवादी नहीं असल में तर्पण दलितों के संगठित प्रतिरोध के साथ–साथ मुख्यतः ग्रामीण ब्राह्मण–वर्ग के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानित क्राइसिस की महागाथा भी है। तर्पण की कथा समकालीन हिन्दी कथा–लेखन में कोई अभिनव शैली या किसी प्रयोगात्मक कथा–संरचना का आविष्कार नहीं करती। यह सरल ढंग से अब तक के पुराने कथा–लेखन की ही परम्परा का प्रयोग करती है। कभी मुंशी प्रेमचन्द की और कभी फणीश्वरनाथ रेणु की परम्परा का अनुसरण करता हुआ कथा–शिल्प एकरैखिक, सीधा, गतिशील, प्रवाहपूर्ण कथानक सा है। भाषा के स्तर पर अवधी बोली के ठेठ शब्दों और संवादों का भरपूर प्रयोग इसे आकर्षक और सजीव बनाता है। साहित्यिक हिन्दी के भावगत दायरे को खड़ी बोली तक सीमित न रखकर, उसे वृहत्तर और ज्यादा विविध बनाने में शिवमूर्ति का बड़ा योगदान रहा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि तर्पण की कथा अपने रोचक और पठनीय वर्णानात्मक शैली–विन्यास तथा जीवंत संवादों के कारण हिन्दी–पट्टी का प्रतिनिधित्व है। इसे पढ़कर जाना जा सकता है कि कथाकार का अनुभव जगत ग्रामीण जीवन के साथ बहुत निकटता से जुड़ा रहा है। उस यथार्थ का सूक्ष्म पर्यावलोकन तथा उसका सजीव प्रवाहपूर्ण चित्रण 'तर्पण' को समकालीन हिन्दी साहित्य में निःसंदेह एक अहम सामाजिक लघु–उपन्यास के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

शिवमूर्ति का उपन्यास 'आखिरी छलाँग' कल्पना से कहीं अधिक भयावह यथार्थ को पकड़ने की ईमानदार कोशिश है। शिवमूर्ति के कथा–साहित्य में ग्रामीण जीवन के भरोसेमंद दृश्य मिलते है। ईमानदारी से देखा जाए तो ग्रामीण परिवेश के जीवन्त दृश्यात्मकता में पुनर्रचना करना शिवमूर्ति की ऐसी खासियत है जो समकालीन कथाकारों को उनसे रश्क करने पर बाध्य कर सकती है। 'आखिरी छलाँग' के पहले ही कुछ वाक्यों में चरी के बोझ की पटकने कुत्ते के चौंककर भौंकने, बैलों के हुँकारने और फुफकारने के दृश्य–बंध और ध्वनि–बंध उपन्यास के परिवेश को बिना किसी लाग–लपेट के पाठको के सामने प्रस्तुत करने को काफी है। जो शिवमूर्ति के कथा साहित्य से परिचित है वे पहले से ही जानते है कि यह परिवेश ग्रामीण ही होगा। मगर इस जाने हुए को उपन्यास के शुरूआत में ही नीरसता और एकरसता के दायरों से बाहर निकालकर पहचनवाना आसान नहीं होता।

उपन्यास 'कर्ज' के बोझ तले पिसते और सरकारी तंत्र के मकड़जाल में फंसे आम किसान की कहानी कहता है। इस आम किसान वका नाम है पहलावान गाँव वाले उसे इस नाम से इसलिए पुकारते है क्योंकि जवानी के दिनों में उसने कुश्ती लड़ी है दूसरे गाँव के पहलवानों को चित किया है। उसने सरकार से कृषि रत्न पुरस्कार भी प्राप्त किया है। उसके बेटे ने इंजीनियरिंग की पढ़ाई कर रहा है। अतः गाँव में उसका सम्मान है, एक विशिष्ट हैसियत है। उपन्यास के आरम्भ में पहलवान का जो व्यक्तित्व है अंत में वह नही रहता। यह उससे विपरीत दिशा की ओर छलॉग लगाता है।

ISSN : 0975-5403

इस छलॉग का हश्र क्या होना है यह सबको पता है कर्ज से मुक्ति न मिलना तय है इसलिये यह छलांग रूमानी लग सकती है। मगर इस छलांग की जड़े जीवन के यथार्थ से जुड़े है और जिसका रूपक है बुझते हुए दिये की लौ–जो बुझने से पहले पूरी ताकत के साथ अपने पूरे आवेग में थरथरा कर जलती हैं

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संजीव और शिवमूर्ति के उपन्यासो का तुलनात्मक अध्ययन करने से एक ओर तो हिन्दी में समकालीन परिदृश्य कथाकार संजीव और शिवमूर्ति किस तरह अपनी जगह तलासते हुए पहचान बनाते है और अंपने उपन्यासो में किस तरह श्रम और प्रतिरोध का सौन्दर्य रचते है का पता चलता है इन दोनों के उपन्यासों में वर्तमान दौर में पूँजीवाद निजीकरण के कारण सर्वहारा समाज और भी दलित बनता जा रहा है। निजीकरण के नाम पर देश की सम्पत्ति नीलाम हो रही है जिसकी कसक संजीव और शिवमूर्ति के उपन्यासों में देखी जा सकती हैं

संदर्भ

1. किसनगढ़ के अहेरी, मीनाक्षी पुस्तक मंदिर, दिल्ली
2. सर्कस, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली
3. सावधान नीचे आग है, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
4. धार, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली
5. पाँव तले दूब, प्रवीण प्रकाशन दिल्ली
6. जंगल जहॉ से शुरू होता है राधाकृष्णा प्रकाशन, दिल्ली
7. सूत्रधार, राधाकृष्णा प्रकाशन, दिल्ली
8. आकाश चम्पा रे, माधव पब्लिकेशन्स, गाजियावाद
9. मधुरेश, हिन्दी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन इलाहाबाद, अष्टम संस्करण–2018
10. ज्योतिष जोशी, उपन्यास की समकालीनता, साहित्य अकादमी प्रकाशन नई दिल्ली
11. संजीव व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ0 रामचन्द्र मारूती लोंछे ए0बी0एस0 पब्लिकेशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण – 2012
12. शिवमूर्ति मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण–201
13. लमही (शिवमूर्ति विशेषांक, अक्टूबर – दिसम्बर–2012)

■ ■ ■

3020 पर्यावरण व मानव सभ्यता की करूण गाथा

डॉ0 राम प्रताप सिंह
शिक्षक
एसो0 प्रोफेसर – हिन्दी विभाग
डी0वी0 कॉलेज, उरई

समय परिवर्तनशील है। समय को बांधा नहीं जा सकता। समय की हम परिकल्पना कर सकते है। समय में भूत जहाँ अतीत का दस्तावेज है, वहीं वर्तमान से हम प्रभावित होते है। भविष्य का शिशु तो वर्तमान के गर्भ में है, जो हमारी दृष्टि के परे है। हिन्दी जगत में राकेश शंकर भारती का चर्चित उपन्यास 3020 एक ऐसा ही उपन्यास है। जिसमें वर्तमान की समस्याओं को केन्द्र बिन्दु बनाकर आगत भविष्य का जो चित्र उकेरा है। वह अत्यन्त भयावह है। एक वैश्विक समस्या जिससे पूरी दुनियां जूझ रही है। लेखक इस रचना के माध्यम से सावधान करता है कि पर्यावरण के विनाश पर मानव सभ्यता का विकास समूची सृष्टि के लिए विनाशकारी होगा।

'तीन हजार बीस' राकेश शंकर भारती का ऐसा उपन्यास है जिसमें परम्परागत धारा से हटकर विज्ञान की गल्प कथाओं के द्वारा उपन्यास को रचते है। हिन्दी कथा साहित्य जगत में यह एक अभिनव प्रयोग हैं। हिन्दी उपन्यास की परम्परा में एक ओर प्रेमचन्द है, दूसरी ओर अज्ञेय है। एक ओर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी है तो दूसरी ओर जैनेन्द्र, मोहन राकेश, और धर्मवीर भारती हैं। हिन्दी जगत में लेखन विमर्शो के केन्द्र में है जिसमें दलित विमर्श, स्त्री विमर्श आदिवासी विमर्श, किसान विमर्श, सम्प्रदायिकता आदि को आधार बनाकर उपन्यास लिखे गये हैं। हिन्दी साहित्य की मूलधारा इसी के केन्द्र में है। हिन्दी साहित्य जगत में एक ऐसा उपन्यास जो किसी अंचल, जाति, धर्म वर्ग, के परे एक वैश्विक चिंता पर्यावरण प्रदूषण को अपनी कथावस्तु का विषय बनाता है। साहित्य अपने समय और समाज से प्रभावित होता है। साहित्य कोई तथ्य मात्र नहीं है। एक सीधी रेखा नहीं है या पदार्थ विज्ञान नहीं है जिसके प्रयोगों के माध्यम से किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। फिर भी राकेश शंकर भारती ने अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से आगत भविष्य को पकड़ने का प्रयास किया है।

3020 उपन्यास 2020 में लिखा गया जिसमें 1000 वर्षों के आगत भविष्य को वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए उपन्यास की कथावस्तु को अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से आत्म कथात्मक शैली में चित्रण किया है। इस उपन्यास में एक ओर 2020 की कोरोना महामारी की त्रासदी है, जिसने पूरी दुनियां को एक अदृश्य वायरस ने झकझोर दिया। इस कोरोना वायरस ने असंख्य लोगों की जिंदगियों को लील लिया। दुनियां की सभी सरकारे हिल गयी। दुनियां के सभी वैज्ञानिक इस कोरोना के कारण चिंचित व अपने को असहाय महसूस करने लगे। मानव के रिश्ते को डोर को भी कोरोना ने छिन्न भिन्न कर दिया। व्यक्ति परिवार में भी एकाकी हो गया। पूरे विश्व में आवागमन बन्द हो गया। लेखक इस कोरोना त्रासदी की विभीषिका का आंखों देखा चित्रण करता है। दुनियां एक तरह से गतिहीन व जड़ हो गयी।

3020 उपन्यास में लेखक बढ़ती आबादी और घटते संसाधनों के कारण चिंचित है। वह 3020 के भावी परिदृश्य का भी अंकन करता है। "अब दुनियां की आबादी 20 अरब हो चुकी है। अपने देश की आबादी 5 अरब पार कर चुकी है। चीन की आबादी 4 अरब है। मैं 2015 ई0 में भारत से यूक्रेन आ गया और शादी करके यही बस गया। अगर जनसंख्या इसी स्थिति में बढ़ती रही तो फिर 20 अरब की विशाल जनसंख्या कहाँ जायेगी या फिर हम पृथ्वी के खत्म होते ही डायनासोर की तरह हमेशा इस पृथ्वी पर एक इतिहास बनकर रह जायेंगे।"1

3020 उपन्यास की कथावस्तु एक ओर 2020 की परिस्थितियों का चित्रण है वहीं दूसरी ओर 3020 की एक झिलमिल कल्पना है। इस उपन्यास में लेखक वैज्ञानिक तथ्यों का जो प्रयोग किया है, ऐसा लगता है कि हम विज्ञान

की गल्प कथाओं को पढ़ रहे है। इस उपन्यास में यद्यपि लेखक स्वयं पात्र है, जो अपने बेटे के साथ मंगल ग्रह की यात्रा करता है। इसमें सभी प्रवासी लेखक भी पात्र हैं हमारे माननीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी भी पात्र है। ''मंगल ग्रह पर जाकर यह पता चलता है कि हमारी पृथ्वी, मंगल ग्रह से कितनी अच्छी है? मंगल ग्रह पर 24 घण्टे की रात होती है। जिससे जो लोग मंगल ग्रह पर ऊँब जाते है। समय रहते पृथ्वी पर कार्बन डाईआक्साइड के उत्सर्जन पर नियंत्रण पा लिया होता तो अभी हमें मंगल तक आने की नौबत नहीं आती। मंगल ग्रह पर आकर अपने को ठगा सा महसूस कर रहे है।''[2]

3020 के इस उपन्यास की मुख्य कथावस्तु पर्यावरण संकट है, किन्तु इसी के समानान्तर दो प्रेम कहानियां भी हैं। एक ओर यूक्रेन की प्रेम कहानी है। जिसमें यूक्रेन की संस्कृति का उल्याना के माध्यम से चित्रण किया है, जिसमें नारी की कारूणिक कहानी है। विश्वास का संकट प्रतिपल है। स्वतंत्रता का मूल्य स्वच्छन्दता में बदल गये है जिसमें संवेदना और प्रेम जैसे उदात्त मूल्यों को भोथरा कर दिया है जिसकी पीड़ा बच्चे जीवन भर एक अनाम पिता के कारण भोगते हैं। परिवार संस्था जो प्रेम, त्याग पर आधारित है। भोगवादी संस्कृति के कारण पारिवारिक मूल्य छिन्न–भिन्न हो गये हैं। उल्याना कहती है–''काश! मेरी माँ की जिंदगी में भी कोई विश्वासी मर्द आकर ठहर जाता तो आज मेरी माँ अकेली जिंदगी बसर नहीं कर रही होती।''[3] दूसरी ओर भारत की प्रेम कहानी है। यहाँ प्रेम, विवाह में परिणत इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि भारतीय समाज की सामाजिक रूढ़ियां जातिप्रथा बाँधा उत्पन्न करती है। यह जातिप्रथा अपने समाज और देश के विकास में सबसे बड़ी बाँधा है। यह हमारे गले की हड्डी है। भले अब हम सबसे पहले अपने परिवार से ही इसी कोरोना काल में जाति प्रथा, ऊँच नीच की तिलांजलि दे देते है।''[4]

साहित्य, राजनीति के लिए मशाल का कार्य करती है। राकेश शंकर भारती का उपन्यास 3020 भावी वैश्विक पर्यावरण विभीषिका के प्रति पूरी दुनियां की सरकारों का ध्यान आकर्षित करना चाहते है। वही दूसरी ओर आम आदमी को भी पर्यावरण के प्रति सचेत करते हैं। जब तक आम आदमी पर्यावरण के प्रति जागरूक नहीं होगा तब तक हम सभी अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकते। साहित्यकार दूरद्रष्टा वह संवेदनशील होता है। उसकी संवेदनशीलता ही उसे साहित्य सृजन के लिए विवश करती है।

3020 उपन्यास की कथावस्तु रोचक है जिसे पाठक ऊँबता नहीं है जिससे पढ़ने में जिज्ञासा बनी रहती है। राकेश शंकर भारती ने खगोल जैसे जटिल विषय को जिस तरह सहज रूप में उकेरा है। वह निश्चित ही आम पाठक के अन्दर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास में सहायक होगा।

अंत में उपन्यास 3020 हिन्दी साहित्य जगत को दिशा देगा जिससे हिन्दी की चेतना का विस्तार होगा। यह हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग है। अगर ऐसा साहित्य आम आदमी के पास पहुंचेगा तभी सही अर्थों में हम जनता को जागरूक कर सकते है। अगर जनता जागरूक होगी तभी सरकारों के ऊपर दबाव बनायेगी। इसी शुभ भावना के साथ मैं राकेश शंकर भारती के उपन्यास 3020 के रचनात्मक के श्रम और उस लॉकडाउन के दौरान एक अच्छी कृति के लिए एक हिन्दी प्रेमी के रूप में शुभकामनाएं देता हूँ।

सन्दर्भ सूची

1. 3020 पृष्ठ 71
2. 3020 पृष्ठ 150
3. 3020 पृष्ठ 41
4. 3020 पृष्ठ 173

■ ■ ■

अनुभूति की सघनता और निशंक का कवितालोक

डॉ. ऊषा मिश्रा
एसोसिएट प्रोफेसर
आर.एम.पी.पी.जी. कालेज, सीतापुर

वर्तमान हिन्दी साहित्य लेखन की बात आती है तो बहुत कम नाम ऐसे हैं जिनको श्रेष्ठता के पैमाने पर खरा पाया जाता है निशंक जी की कविताओं में युग चेतना का पूर्ण रूप से निर्वहन हुआ है इसी अर्थ में वे युग के प्रतिनिधि कवि हैं। अर्थात् इनका स्थान राष्ट्रीयता और संस्कृति के आलोक में ध्रुवतारा जैसा है 'निशंक' जी ने जीवन के शाश्वत मूल्यों को रेखांकित करते हुए मनुष्य के कर्मपथ को प्रशस्त करने में कोई कोताही नहीं की इसी कारण इन्हें जन–जन का प्रतिनिधि और राष्ट्रीय कवि होने का गौरव प्राप्त है।

'निशंक' जी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल से इक्कीसवीं शताब्दी तक फैले इनके साहित्य में युग जीवन का स्वर गुंजरित हुआ है तथा मानव जीवन के सभी पक्षों को इसमें समाहित कर लिया गया है इनके रचना–संसार पर दृष्टिपात किया जाए तो असाधारण सृजनशीलता और अद्वितीय प्रतिभा के धनी 'निशंक' जी ने साहित्य की सभी विधाओं पर लेखनी चलाई। इनका समूचा साहित्य खड़ी बोली में लिखा गया है। इन्होंने खण्डकाव्य, कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, डायरी, बाल–कहानी, धर्म, संस्कृति, पर्यटन जैसी अनेक विधाओं में लेखन किया है।

निशंक जी एक महान् साहित्यकार होने के साथ–साथ उच्चकोटि के राजनेता हैं। राजनीति के ऊँचे पायदान पर व्यस्त रहने के तदोपरान्त भी साहित्य साधना में निरंतर लीन हैं।

'निशंक' जी को कवि के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त है यदि वर्तमान समय की चर्चा करें तो वे ही अकेले कवि हैं जो राष्ट्रीय भावनाओं के संवाहक और भारतीय संस्कृति के आख्याता हैं। इनके काव्य की सबसे प्रमुख विशेषता राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति है काव्य कृतियों के साथ इनकी गद्य रचनाओं में भी देश प्रेम एवं राष्ट्रीयता की भावना प्रखरता से अभिव्यक्त हुई है। इनकी रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना का परंपरागत एवं ऐतिहासिक वर्णन मिलता है तो कहीं क्रांति एवं विद्रोह का स्वर है। दूसरी ओर जन–जन में आस्था होने के कारण इनकी सामाजिक चेतना दलित, पीड़ित तथा नारी के प्रति संवेदना के रूप में अभिव्यक्त हुई है। इनके साहित्य में भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट प्रेम परिलक्षित होता है। भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति की उत्कृष्ट झांकियाँ इनके खण्डकाव्य 'प्रतीक्षा' में अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित हुई हैं। उत्तराखण्ड के पूर्व महामहिम राज्यपाल सुदर्शन अग्रवाल जी ने 'प्रतीक्षा' खण्डकाव्य पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं, ''निशंक के काव्य रचना की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे चरित्र संघर्ष एवं परिश्रम को अहमियत देते हैं। समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं अंधविश्वासों को साहित्य के माध्यम से दूर किया जा सकता है। 'निशंक' का साहित्य समाज को नयी दिशा देता है।''[1]

'प्रतीक्षा' खण्डकाव्य के सम्बन्ध में 'निशंक' जी ने 'अपनी बात' में लिखा है– यह खण्डकाव्य एक ऐसी माँ की मार्मिक कथा है, जिसने जीवन की देहरी पर पैर रखते ही संघर्ष शुरू किया और फिर संघर्षों में तपकर कभी पीछे मुड़ने का नाम नहीं लिया। उसने जीवन में अनेक उतार–चढ़ाव देखे कदम–कदम पर ठोकरें खाई। दुःख दर्द ने तो जैसे डेरा ही डाल दिया था उसके जीवन में लेकिन उसने हिम्मत नहीं हारी। वह हर पल अच्छी घड़ी की प्रतीक्षा करते देखी गई। असहाय माँ किस प्रकार क्रूर व्यथाओं के थपेड़े खा–खाकर विपरीत परिस्थितियों के बाद भी अबोध बच्चे के लालन–पालन कर देश की सेवा के योग्य बनाकर स्वयं मिट जाती है, जानने योग्य है।

'प्रतीक्षा' खण्डकाव्य में कवि ने नारी समाज के प्रति गहरी संवेदना व्यक्त करते हुए अपना अहोभाव प्रस्तुत किया एवं अपने नैतिक चिंतन को राष्ट्रीय आधार प्रदान किया है। नारी की दयनीय स्थिति, नारी समस्या के चित्रण के साथ

नारी की भावात्मक अभिव्यक्ति सहज बन पाई है। प्रस्तुत संकलन में माँ पुत्र दर्शन की आशा या पुत्र आगमन की प्रतीक्षा मात्र नहीं है। अपितु माँ को अपने पुत्र के बिना अकेलापन लील रहा है और अपने मन को बहलाने के लिए एक चींटी से बातें करती है। ये कवि के शब्दांकन–भर नहीं है, अपितु इन्हें संवेदना भी अर्पित की है। कवि लिखते हैं–

''तू अकेली छोटा जीवन
बस मेरा भी हाल यही है।
सुख का घट जीवन भर रीता,
दुःख की तो बरसात रही है।''[2]

कवि का मानना है कि नारी जीवन की हर स्थिति में संघर्ष करती हुई नज़र आती है। एक तरफ पुत्रमोह और दूसरी तरफ दरिद्रता की बेबसी का चित्र अधिक उभरा है। इस व्यथित जननी का क्रंदन पत्थर को भी पिघला देने वाला है–

''आजीवन भय बना रहा
इस काल सर्प ने डस मारा।
आशंवा बिष बेल बढ़ी
भीषणतम यह जग सारा।''[3]

'लोकप्रियता' कभी भी रचना का मानक नहीं बन सकती। असल मानक तो होता है कवि का दायित्व बोध। इस तरह की सोच 'निशंक' जी के लेखन की रही है। ये क्रांतिकारी लेखकों में माने जाते हैं। वर्तमान समाज में स्त्रियों की दशा, वर्गीय असमानता और आर्थिक असमानता को अपनी लेखनी में पिरोकर समाज की आँखें खोलने का काम कवि ने किया। समाज की सच्चाई को इन पंक्तियों में व्यक्त किया गया है–

''सफेद कफन से ढकी हुई,
देखी है मैंने,
वह लाश पड़ी है
आँखों में आँसू लिए,
पास सटी
एक महिला खड़ी है।
शेष सब मौन। बस मौन हैं,
न जाने कौन! वे कौन हैं!
दुःख छाया है मुख मंडल पर,
ज्ञात हुआ है,
काल ने क्रूर नियति डाली है
आज यकायक इनके सुख पर।''[4]

'प्रतीक्षा' खण्डकाव्य के 'भविष्यपर्व' में नारी के करुण क्रंदन की अनुगूँज दूर तक सुनाई देती है। नारी–वेदना की चरमसीमा का चरमोत्कृष्ट रूप अभिव्यक्त हुआ है। इस भाव को वाणी देते हुए कवि कहते हैं–

''जीवन के बहु प्रश्न खड़े,
विकट समय था साथ न कोई।
ठोकर खाती गिरती–उठती,
कहे किसे गुप–चुप थी रोई।''[5]

कवि ने अभागिन विधवा स्त्री की असहाय अवस्था की ओर संकेत किया, वहीं नारी की हीनावस्था को भी उद्घाटित किया है–

''बचपन में चल बसे पिता,
बस तबसे विवश अनाथ हुए।
पग–पग पर ठोकर खा–खाकर,
मैंने थे विष घूँट पिये।''[6]

कवि 'निशंक' जी का संवेदनशील मन समाज में पीड़ित एवं दीनहीन वर्ग के दृश्य देखकर विचलित हो उठता है और उनकी संवेदना कविता के माध्यम से फूट पड़ती है। आज समाज में किसी के सुख–दुःख से किसी को कोई सरोकार नहीं रह गया है। कवि ने स्वयं भी जीवन बहुत सी विपत्तियों का सामना किया। इस तथ्य को उनकी अनेक कविताओं में देखा गया है। कवि का कथन है–

''सड़क किनारे कभी मध्य तो,
कभी खाई में निज पाया।
भरी उजली दुनिया तेरी,
हे ईश! मुझे अंधेरी है।
कोई अंधा दर–दर भटके
क्या माया ये तेरी है।''[7]

कवि 'निशंक' जी में मेहनत करने वाली जनता की भावना को ग्रहण करने एवं उसे अभिव्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। कवि की इस पीड़ित दीनहीन वर्ग के प्रति गहरी संवेदना है। इनकी यही संवेदना यथार्थ स्थिति को प्रकट करने के लिए बाध्य करती है और समाज के इस वर्ग को प्रताड़ित करने वाले लोगों को कड़ी फटकार लगाई है और कवि का आक्रोशित मन कह उठता है–

''हृदय नहीं उस मानुष में,
पीड़ित प्राणी को जो करता।
घृणित पात्र तो बन जाता,
घुट–घुट कर वह है मरता।''[8]

कवि ने समाज में दीन–दलितों, पीड़ितों, किसानों को स्वावलम्बन एवं आत्मनिर्भरता का संदेश दिया है। इनका मानना है कि यदि सफलता हासिल करनी है तो अपनी क्षमताओं का विकास करना होगा, क्योंकि स्वावलम्बन की आदत हमारे दिमाग में स्वतन्त्र चिन्तन शीघ्र निर्णय की शक्ति भर देती है और हमें जिम्मेदार नागरिक बनाती है। 'भारत की तकदीर उठो' कविता में यही भाव व्यंजित है–

''निर्बल न बनो विश्वास करो
हर शक्ति समायी तुममें है
पूरी दुनिया भर की देखो
अनुरक्ति समायी तुममें हैं।''[9]

कवि 'निशंक' जी कुशल राजनेता, साहित्यकार और कवि से कहीं ज्यादा बड़े व्यक्ति हैं, इनकी आँखों से मनुष्य का दर्द सबसे अधिक झलकता है। कवि का भावुक हृदय पीड़ित मानवता को देख द्रवीभूत हो उठता है। 'जीवन का सार' कविता की पंक्तियाँ इसी भाव की सफल प्रस्तुति हैं–

''वे चक्षु कहाँ हैं मानव के
जिनमें न समाज का कर्म कहीं,
क्या भाव समाएगा उसमें
जिसने देखा दुःख–दर्द नहीं।''[10]

सामाजिक असमानता का मूल कारण अर्थप्रधानता है। कवि ने समाज के पीड़ितों, दीन–दुखियों की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है। मजदूर ही सभी चीजों का कर्ता है फिर वह ही सब चीजों से दूर, जिसने समाज में सिर्फ परोपकार के बदले तिरस्कार को स्वीकार कर लिया है, उसी में ही जीवन जीना सीख लिया है। 'भूखा नहीं था' से उद्धृत निम्न पंक्तियाँ भीतर तक हृदय को द्रवित कर देती हैं–

''नंगा नहीं था गरीबी को ओढ़ा
दर्द खाया था मैंने, भूखा नहीं था।
बैठा कहाँ था, भटकता रहा मैं,
बदन गीला था मेरा, सूखा नहीं था।
तुम मुझे भूखा न कहना, समझना न नंगा,
जाड़ा है भरपेट गरीबी को पहना।''[11]

'निशंक' जी समाज में फैले शोषणचक्र का खुलकर विरोध करते हैं भारत के प्रबुद्ध वर्ग को राष्ट्रीय चेतना के साथ जोड़कर अपना कवि धर्म बहुत ही ईमानदारी से निभा रहे हैं। कवि ने दीन–दुःखियों के प्रति गहरी संवेदना और सहानुभूति व्यक्त की और आम जनता के शोषण एवं उत्पीड़न का भरपूर विरोध किया। समाज के साधन सम्पन्न वर्ग द्वारा किए जा रहे अत्याचार से निशंक जी देश की जनता को मुक्ति प्रदान करना चाहते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'निशंक' जी हिन्दी जगत् के यशस्वी और मनस्वी अक्षर साधक हैं इन्होंने साहित्य के मूल धर्म को अपने कवि–कर्म में आत्मसात करके कालजयी साहित्य की सर्जना की है जिसमें संवेदना की

ISSN : 0975-5403

प्रांजल अनुभूति, परिष्कृत चिन्तन, काव्योचित गंभीरता प्रमुखता से देखी जा सकती है। 'निशंक' जी की कविताओं में संवेदना की अनुभूति होती है लेकिन दृष्टि और विचार में कहीं भी रूढ़िवादिता को प्रश्रय नहीं देते हैं। विचारों में प्रगतिशील राष्ट्रवादी चिंतक और व्यावहारिक में उदारमन ही इनकी पहचान है। गद्य और पद्य में समान रूप से अधिकार रखने वाले 'निशंक' जी समाज और संस्कृति के उत्थान में अपना गौरव समझते हैं। इन्होंने अपने साहित्य की विविध विधाओं के माध्यम से गरीब, दलित, चर्चित नारी, बच्चों, विधवाओं को प्रमुख वर्ण्य विषय बनाकर नवजागरण का संदेश दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि कवि का चिंतन निश्चय ही प्रौढ़ता को प्राप्त होकर ऐसी गरिमा के साथ पुष्पित और फलित होगा जो पूरे समाज एवं राष्ट्र को अपनी सुगंध से परिपूर्ण करेगा और आने वाली सामाजिक पीढ़ी अपने मध्य ऐसे कवि की कृतियाँ देखकर स्वयं को गौरवान्वित महसूस करेगी।

संदर्भ सूची

1. डॉ. निशंक का रचना संसार, पृ. 5
2. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', प्रतीक्षा, पृ. 30
3. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', प्रतीक्षा, पृ. 36
4. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', तुम भी मेरे साथ चलो, पृ. 43
5. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', प्रतीक्षा, पृ. 61
6. उपरिवत्, पृ. 69
7. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', तुम भी मेरे साथ चलो, पृ. 17
8. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', समर्पण, पृ. 52
9. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', ए वतन तेरे लिए, पृ. 14
10. उपरिवत्, पृ. 84
11. डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक', भूल पाता नहीं, पृ. 204

■ ■ ■

परामर्श मंडल

प्रो. विनोद कुमार मिश्र, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, अगरतला

प्रो. अवधेश कुमार, तुलनात्मक साहित्य विभाग, म.गां.अ. हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

प्रो. माला मिश्रा, पत्रकारिता विभाग (अदिति महाविद्यालय), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. हेमांशु सेन, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो. कृष्णकान्त चन्द्रा, हिन्दी विभाग, जे.एन.एम.पी.जी. कालेज, बाराबंकी, उ.प्र.

प्रो. मनीष पाण्डेय, संस्कृत विभाग, जे.एन.एम.पी.जी. कालेज, बाराबंकी, उ.प्र.

प्रो. रीना सिंह, हिन्दी विभाग, जे.एन.एम.पी.जी. कालेज, बाराबंकी, उ.प्र.

प्रो. गौतम बनर्जी, अंग्रेजी विभाग, एम.एम.एच. कालेज, गाजियाबाद

प्रो. प्रणय कुमार त्रिपाठी, अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, का.सु. साकेत पी.जी. कालेज, अयोध्या

प्रो. वन्दना श्रीवास्तव, हिन्दी विभाग, जे.एन.पी.जी. कालेज, लखनऊ

डॉ. संजीव विश्वकर्मा, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. जोगिन्द्र कुमार यादव, उप क्षेत्रीय निदेशक, IGNOU क्षेत्रीय केन्द्र, हिमाचल प्रदेश

डॉ. अमलदार 'नीहार', एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्री मु.मा. टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया

डॉ. राजनारायण शुक्ल, कार्यकारी अध्यक्ष, उ.प्र. भाषा संस्थान, लखनऊ

डॉ. राजेश चन्द्र पाण्डेय, सम्पादक शोध–धारा, त्रैमासिक, उरई

डॉ. अनिल सिंह, उप–प्राचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, एस.बी. आर्ट्स एवं कामर्स कालेज, शाहपुर थाणे, महाराष्ट्र

डॉ. रवि कान्त, एसोसिएट प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. रवि शुक्ल, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, हिमाचल विश्वविद्यालय, शिमला

डॉ. दयाल सरन, सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, राजकीय महाविद्यालय, पिहानी, हरदोई

डॉ. विजय कुमार वर्मा, एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जे.एन.एम.पी.जी. कालेज, बाराबंकी, उ.प्र.

डॉ. श्रवण गुप्ता, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, विद्यांत हिन्दू पी.जी. कालेज, लखनऊ

श्री विकास, सहायक कुलसचिव, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

श्री हरिश्चन्द्र शर्मा, सहायक कुलसचिव, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

RNI : UPHIN/2009/32943

सदस्यता शुल्क वाग्प्रवाह के खाता सं. 1855000109052846
पंजाब नेशनल बैंक, बी–3/5 विजयन्त खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ पिन–226010 में सीधे जमा कर सकते हैं।

प्रकाशक एवं मुद्रक : अनिल कुमार विश्वकर्मा
प्रकाशन स्थल : 'अस्तित्व विला' 624भ/ज्ञभ-28, गोमती विहार, चिनहट, लखनऊ-226028